46

साहित्यमञ्जरी

लेखक

पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

शारदा प्रकाशन संस्थान

वाराणसी

१९७७]   [प्रथम संस्करण

प्रकाशक

शारदा प्रकाशन संस्थान,

शारदा भवन

डी० ३६।४४, अगस्त्यकुण्ड,

वाराणसी—२२१००१

फोन : ६७००७

•

मूल्य—पन्द्रह रुपये

•

प्रथम संस्करण

१९७७

•

•

मुद्रक

अनुपम प्रेस

दुर्गाघाट, वाराणसी ।

विंशतिका

शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः

(१)

श्रीमद्गुरुवरखिस्तेमहोदयानामियं वाणी ।
सहृदयहृदयास्वाद्या नूनं हृद्या सुधालहरी ॥

(२)

आबाल्याद् गुरुवर्य्यैरेभिः साहित्यसेवासु ।
यः प्रकटितः प्रकर्षोऽत्रापि समासादनीयोऽसौ ॥

(३)

ऋषिकल्पैः पितृचरणैर्विद्यादेव्या रहस्यतन्त्रेऽस्मिन् ।
एते कृतप्रवेशाश्चमत्कृतिं तां परां प्रापुः ॥

(४)

एतेषां काव्यानां मधुरिमभरिताश्चमत्काराः ।
वाराणस्यामस्यां निखिलेऽपि च भारते सुविलसन्ति ॥

(५)

आचार्याणां भावान् सरहस्यान्स्फोरयन्तोऽमी ।
नाना भावगभीरानपि प्रबन्धान् विरचयन्ति ॥

(६)

नृत्यत्प्रायपदावलिरेतेषां सन्निबन्धेषु ।
छायामयीं वितनुते सुषमां पाण्डित्यपरिपूर्णाम् ॥

(७)

शास्त्ररहस्यविवेचनसरणौ संजागरूकायाम् ।
प्रायो वाक्पारुष्यं विदुषां सन्दृश्यते बहुलम् ॥

(८)

शास्त्ररहस्यविमलता शब्दानां सम्प्रसादश्च ।
श्रीगुरुवर्य्यनिबन्धेष्वेतेषु प्रेक्षणीयोऽस्ति ॥

(९)

नाना मान्यविचारा आचार्याणां विराजन्ते ।
काव्यालोचनविषये प्रतिभासन्ते तु विपरीताः ॥

(१०)

ये हि विपश्चित्प्रवरास्तेषामाभासतां नूनम् ।
कथयन्ति स्वैस्तर्कैस्तेषां खिस्तेमहोदयाः प्रमुखाः ॥

(११)

अस्मत्सदृशविनेयेष्वेते दयया तु गंभीरान् ।
तर्कैर्जटिलान् विषयान् सारल्येन प्रकाशयन्ति स्म ॥

(१२)

अस्मादृशशिष्याणां सम्प्रार्थनयापि गुरुवर्याः ।
नैकाँल्ललितान् लेखान् तत्तत्कालेषु रचयन्ति ॥

(१३)

श्रीकालिदासकविताऽमृतनिष्यन्देषु सन्तरन्तोऽमी ।
विविधेष्वत्र निबन्धेष्वास्वाद्यं संप्रयच्छन्ति ॥

(१४)

मम्मटभट्टविचारान्, ध्वनिमार्गं महिमभट्टमपि सम्यक् ।
सहृदयहृदयविधाभिर्भङ्गीभिर्व्याहरन्त्यत्र ॥

(१५)

संस्कृतशास्त्रसमुद्रे कृतावगाहा इमे निबन्धेषु ।
शास्त्ररहस्यविकल्पान् वैमल्येन प्रकाशयन्तितराम् ॥

(१६)

आगमशास्त्रमतीवोन्मिषितप्रज्ञं परं शास्त्रम् ।
तत्र कथंचित् प्रज्ञा मनीषिणां संचरति लोके ॥

(१७)

स्पन्दादिषु विषयेष्वपि स्वीयांल्लेखानथापि चात्रैव ।
पारम्परिकीं श्रद्धां प्रकाशयन्तो लिखन्त्येते ॥

(१८)

विद्वन्मानसहंसाः सारस्वतकुलावतंसाश्च ।
विहितविपक्षध्वंसाः खिस्तेवर्या विराजन्ते ॥

(१९)

विद्याविनाशकर्मणि निरतानां दुष्टचरितानाम् ।
मुखमुद्रणं विधातुं दिवाऽनिशं जागरूकास्ते ॥

(२०)

सैषा निबन्धमाला गुरुवर्याणां प्रकाशमायाता ।
विदुषां मनो-विनोदं छात्राणां ज्ञानवर्धनं कुर्यात् ॥

सपर्या-समर्पण

श्रद्धास्पद गुरुवर श्री पंडित बटुकनाथ शास्त्री खिस्तेजी के संस्कृत निबन्धों का प्रथम संकलन प्रकाशित होकर संस्कृत के मनीषिसमुदाय के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है यह देखकर सभी सहृदय विद्वान् प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

गुरुवर बटुकनाथ शास्त्रीजी का जन्म ३०-१०-१९१८ को भारत के प्रकांड विद्वान् कविकुलगुरु महामहोपाध्याय पंडित श्रीनारायणशास्त्री खिस्तेजी के पुत्र के रूप में हुआ। आप महाराष्ट्र ब्राह्मण-मण्डल के शिरोमणि थे। महाराष्ट्र ब्राह्मणमण्डल में आज भी वैदिक संस्कारों का यथाविधि पालन तथा वेदों का पारायण कुलक्रमागत पद्धति से चलता है। तदनुसार ही आपके पुण्यश्लोक पिताजी ने आपके वेदोदित समस्त संस्कारों का यथासमय यथाविधि सम्पादन किया।

संस्कृत शिक्षा ग्रहण करते हुए परीक्षाएं उत्तीर्ण करने का क्रम आपने १९४१ तक पूर्ण कर लिया था। परन्तु अंग्रेजी परीक्षाओं के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए १९५४ में आपने एम० ए० परीक्षा भी उत्तीर्ण की। अध्ययन काल में परीक्षाओं में विशेष योग्यता तथा अनेक प्रतियोगिताओं में आपने अनेक पुरस्कार प्राप्त कर अपने छात्रजीवन को गौरवपूर्ण बनाया।

आपने स्वनामधन्य म० म० श्री पं० लक्ष्मण शास्त्रीजी तैलंग, दार्शनिक-सार्वभौम श्रीमान् दामोदरलाल जी गोस्वामी, श्री पंडित भालचन्द्र शास्त्रीजी तैलंग तथा अपने पूज्य पिता म० म० श्री नारायण शास्त्रीजी खिस्ते महोदय से विविध शास्त्रों का चूडान्त पाण्डित्य प्राप्त करते हुए संस्कृत काव्यरचना-शक्ति में विलक्षणता अर्जित की। आपके पूज्य पिताजी स्वयं वीणावादिनी के कृपापात्र और सुललित काव्यरचन-शक्ति से सम्पन्न थे। सांगवेद विद्यालय की "गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभा" ने अपने एक वार्षिकोत्सव में सहस्रों प्रकाण्ड विद्वानों की उपस्थिति में "कविकुलगुरु" उपाधि से आपको विभूषित किया था। उनके काव्यनिर्माण-प्रकर्ष को आपने भी उत्तराधिकार में प्राप्त किया। आज तक आपने

जितने छन्द लिखे हैं उनको संकलित रूप में प्रकाशित करने पर वह अनेक महाकाव्यों की महिमा से मण्डित ग्रन्थ होगा। इस दिशामें भी प्रयास चल रहा है कि आपका काव्य-रचना-संग्रह भी शीघ्र प्रकाश में आये। यदि कोई बाधा न उपस्थित हुई तो सहृदय विद्वानों को उसके लिये अब और अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी होगी।

आपने गवर्नमेंन्ट संस्कृत कालेज में १९४७ में अध्यापक के रूप में प्रवेश किया और १९७१ से उसी संस्था के परिवर्तित रूप सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के प्रोफेसर तथा साहित्य-विभागाध्यक्ष पद पर गौरवपूर्ण कार्य संपादन करते हुए संस्था की सेवा करते आ रहे है। उससे पूर्व १९४४ से १९४७ तक आपने काशी के सुप्रसिद्ध मारवाड़ी संस्कृत कालेज में अध्यापन किया था। इस ३५ वर्ष के लम्बे अध्यापन काल में आपने सहस्रों छात्रों को शिक्षा प्रदान कर योग्यता के उत्कर्ष पर पहुँचाया। उनमें से आपके अनेक छात्र कुलपति, विश्वविद्यालयों के विभागाध्यक्ष, रीडर, प्रवक्ता तथा अनेक विभिन्न प्रशासकीय पदों को विभूषित करते हुए आपके यश को फैला रहे हैं।

अध्यापन के साथ ही आपने अनेक ग्रन्थों की व्याख्या तथा संपादन का कार्य भी संपन्न किया। जातकमाला तथा हर्षचरित आपकी व्याख्या-सहित मुद्रित हुए। स्वप्नवासवदत्तम्, उपाख्यानमंजरी, अलंकारसारमंजरी, छन्दोमंजरी, सिन्धुवादवृत्तम् प्रभृति संस्कृत ग्रन्थों का आपने संपादन किया। हिन्दी में भी आपने काव्यांगकौमुदी ग्रन्थ का संपादन किया। संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के उपरान्त जब वहाँ शोध कार्य आरंभ हुआ तो आपने अपने निर्देशन में योग्य छात्रों से अनेक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कराए और वे शोध उपाधि से विभूषित हुए। आपने जिन विषयों पर शोध कार्य सम्पन्न कराया है वे इस प्रकार हैं—

१–संस्कृतसाहित्ये विरहवर्णनम्।

२–कालिदासरचनासु नारीणां सामाजिकी स्थितिः।

३–काश्मीरिककाव्येषु सामाजिकी स्थितिः।

४–विशिष्टो रसवादः ।

५–करुणरसस्य सर्वरसोपादानत्वम् ।

६–रसप्रदोपस्य समीक्षात्मकमध्ययनम् ।

७–१९१० ईसवीतः १९२० ईसवीपर्यन्तं वाराणसेयसंस्कृतकवीनां परिशीलनम् ।

८–समासोक्त्यलंकारस्यालोचनात्मकमध्ययनम् ।

९–कालिदासकृतिषु सामाजिकी स्थितिः ।

वर्तमान में श्री खिस्ते जी के निर्देशन में जिन विषयों पर शोधार्थी छात्रों द्वारा कार्य चल रहा है, वे इस प्रकार हैं—

(१) सारबोधिनीटीकायाः समीक्षा ।

(२) बाणभट्टरचनासु पशुपक्षिलतावृक्षादीनामध्ययनम् ।

(३) अग्निपुराणस्यालंकारविषयिणीटीकासमीक्षा ।

(४) गुणमन्दारमंजरीसमीक्षा ।

(५) भैष्मी परिणयचम्पूविमर्शः ।

(६) भागवतव्यञ्जनसमीक्षा ।

इसके अतिरिक्त संस्कृतशोधकार्यों से आपका निरन्तर निकट सम्बन्ध रहता है । अन्यान्य बिश्वविद्यालयों के शोधार्थी आपका अनौपचारिक मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए अपने लक्ष्य में सहज ही आगे बढ़ रहे हैं । विभिन्न विश्वविद्यालयों के अनेक शोधप्रबन्धों की परीक्षा कर प्रतिवर्ष ही आपको उनके प्रति अपने परीक्षकत्व का निर्वाह करना पड़ता है ।

आपके लेख तथा पद्य-रचनाएँ संस्कृत तथा हिन्दी की सामायिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं हैं जिनमें सुप्रभातम्, सूर्योदयः, अमर भारती, मधुरवाणी, वल्लरी, संस्कृतरत्नाकरः, संगमनी, सागरिका, गाण्डीवम्, सन्मार्ग, आज प्रभृति पत्रिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं । अनेक प्रशस्त अभिनन्दन ग्रन्थों में भी आपकी अनेक रचनाएँ मुद्रित हुई हैं ।

इन्हीं पत्रिकाओं में पूर्व प्रकाशित बहुचर्चित और प्रशंसित लेखों का संकलन प्रस्तुत पुस्तक साहित्यमंजरी में किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ९ लेख महाकवि कालिदास से सम्बद्ध है। महाकवि कालिदास संस्कृत कविता के सर्वांग शृंगार हैं। अब तक के समस्त संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं दिखाया जा सकेगा, दो-चार सम्प्रदायपरक ग्रन्थों को छोड़कर, जहाँ शास्त्रीय सिद्धान्तों के उदाहरणों के रूप में कालिदास के छन्दों का स्मरण न किया गया हो। सभी काव्यशास्त्र के आचार्यों ने विभिन्न सन्दर्भों में कालिदास के शतशः पद्यों पर अपनी प्रशंसा भरी आलोचनाएँ अभिव्यक्त की हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में किसी एक कवि की कालिदास को छोड़कर इतनी अधिक आलोचनाएँ न मिलेंगी। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रद्धेय खिस्ते जी ने मेघदूत में काव्यसौन्दर्य की सुषमा को अनेक छन्द उद्धृत कर के दर्शाया है और सहृदय संवेद्य अनेक स्थलों के मर्म को प्रकाशित किया है। गद्यकाव्य पंचानन बाणभट्ट के अनेक सन्दर्भों की कालिदास के सन्दर्भों से स्पष्ट तुलना करके सिद्ध किया है कि अनेक स्थलों पर बाणभट्ट ने अपनी विश्वविख्यात रचनाओं में कालिदास का अनुकरण किया है। इससे "लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता" वाला काव्य का अन्यतम कारण बाण की रचनाओं में परिलक्षित होता है।

काव्यप्रकाश के निर्माता आचार्य मम्मट, साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ, व्यक्तिविवेककार आचार्य माहिम भट्ट ने अपने ग्रन्थों में कालिदास के विभिन्न छन्दों की जो समालोचनाएँ की हैं, उनका श्री खिस्तेजी ने पृथक्-पृथक् निबन्धों में आकलन प्रस्तुत करते हुए अनेक स्थानों पर आचार्यों के लिए भी अपनी बेलाग टिप्पणियाँ दी हैं। इसके अतिरिक्त कालिदास का भक्तिपक्ष, अलंकारपक्ष, उनका परम्परासिद्ध मन्त्रविद्यापक्ष अलग-अलग निबन्धों में विस्तार से प्रदर्शित किया है।

कालिदास का चिद्गगनचन्द्रिका नामक ग्रन्थ जो काव्यों के अतिरिक्त एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है आपने एक निबन्ध में उसके सम्बन्ध में मननीय सामग्री प्रस्तुत की है। कालिदास पर इतनी प्रामाणिक और समीक्षात्मक सामग्री ने इस ग्रन्थ को कालिदास-साहित्य के अध्येताओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इस ग्रन्थ के सभी निबन्ध विभिन्न समयों में विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर समादृत हो चुके हैं।

काव्यशास्त्र सम्बन्धी रहस्यमय विषयों पर भी इस ग्रन्थ में विभिन्न निबन्धों का संकलन हुआ है। साहित्यशास्त्र में ध्वनिस्वरूप और रस-विमर्श, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, दोषों से बचने की कला, काव्य की सत्यता, वक्रोक्ति सम्प्रदाय और पण्डितराज जगन्नाथ की समीक्षा-सरणि पर आचार्य श्री खिस्ते जी के सुलझे हुए विचार और रहस्यों का आकलन इस ग्रन्थ के लेखों द्वारा सहज ही प्राप्त हो सकेगा। आपके आगम शास्त्र विषयक निबन्धों में स्पन्द आदि तत्त्वों पर सरल गंभीर प्रकाश डाला गया है।

स्पष्ट है कि उक्त विषयों पर विभिन्न मनीषी विचारकों ने लेखों और ग्रन्थों द्वारा अपने मनन-चिन्तन को प्रस्तुत किया है, परन्तु इन निबन्धों की अपनी पृथक् विशेषता है। इनमें तत्तद्विषयों की तलस्पर्शिनी दृष्टि, विचारों की शृङ्खला-बद्धता, प्राचीन आचार्यों के मतों का गम्भीर आकलन जिस हृदयंगम पद्धति से हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ केवल विषयानुसार उद्धरणों का संकलन मात्र नहीं जैसा प्रायः देखा जाता है, न हीं पाश्चात्य ग्रन्थों या प्राचीन टीकाकारों के प्रति गतानुगतिकता है, अपितु अपने दीर्घकालीन विशद अध्ययन से प्राप्त सूक्ष्म दृष्टि का विशद प्रस्तुतीकरण है।

संस्कृत में निर्मित होने पर भी इन निबन्ध-रचनाओं में कहीं भी भाषागत क्लिष्टता के दर्शन नहीं होते। यह एक ऐसी बात है जो इन निबन्धों को किञ्चि-न्मात्र संस्कृत से परिचितों को भी इन विषयों का रसिक बना देगी।

मैक्सिको में अठारहवें ओलम्पिक की स्मारिका में भारत की प्रतिनिधि कविता के रूप में आपकी संस्कृत रचना को स्थान दिया गया। आपकी पद्य रचनाओं में भी प्रसाद गुण की कालिदास वाली सुषमा व्याप्त रहती है, जिसका आस्वाद भी सहृदय पाठकों को पुस्तक के रूप में शीघ्र ही प्राप्त करने का अवसर मिलेगा।

इस पुस्तक का प्रकाशन शारदा प्रकाशन संस्थान के संस्थापक संस्कृत जगत् के मूर्धन्य विद्वान् पं० गौरीनाथ जी पाठक के सुपुत्र श्रीविनोदराव पाठक जी ने करके सहृदय वर्ग का बड़ा उपकार किया है।

हमें विश्वास है कि इसी प्रकार पूज्य गुरुवर श्रीखिस्तेजी काव्य-जगत् के अन्य आयामों पर भी अपनी सूक्ष्म दृष्टि वाली समालोचनाओं से विद्वानों को तृप्ति प्रदान करेंगे और आगामी अध्येताओं का निरन्तर मार्गदर्शन करेंगे।

वर्तमान अवस्था में आज भी आपमें युवजनोचित उत्साह की कोई कमी नहीं है। वाराणसी की संस्कृत साहित्य सम्बन्धी गतिविधियों का आपके निर्देशन में सुचारु संचालन होता है। वाराणसी में विगत बारह वर्षों से संचालित 'कविभारती' संस्था के आप प्राण हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि यह ग्रन्थ विद्वानों, छात्रों तथा संस्कृत-काव्य-प्रेमियों को पूर्ण परितृप्ति और मार्गदर्शन प्रदान करेगा।

प्रवक्ता— विनीत—

साहित्यविभाग–प्राच्यविद्यासंकाय शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी।

कार्तिक शुद्ध पौर्णिमा २०३४

लेख-सूची

उत्सर्गप्रसूनम्



प्रातःस्मरणीयानां सुगृहीतनामधेयानां साहित्यार्णवकर्णधाराणां
श्री ६ मद्गुरुवरश्रीभालचन्द्रशास्त्रिमानवल्ली-
श्रीचरणानाम् पाद-पाथोजयोः

गुरुवर ! भवदुक्तिज्योत्स्नया धौतचित्तात्
समुदयमुपयाता वाङ्मयी मञ्जरी मे ।
पुनरपि भवदङ्घ्रिद्वन्द्वपूजाविधाने
प्रणयपरिणतार्घ्योपास्तिपूर्तिं तनोतु ॥

शिष्येष्वन्यतमो
बटुकनाथशास्त्री खिस्ते

मेघदूते काव्यरत्ने कालिदासो विशिष्यते

विश्वविश्रुतयशःस्तोमधवलीकृतधरातलस्य कविकुलगुरोः कालिदासस्य कृतिषु सर्वातिशायि परमानन्दरसस्यन्दि काव्यरत्नं मेघदूताभिधं नाम।

यद्यपि धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादकत्वादीनि भूयांसि प्रयोजनानि काव्यानां मम्मटादिभिरुद्घोषितानि सन्ति—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ इत्यादिना।

परं सर्वातिशायि अनितरसाधारणं प्रयोजनं परमानन्दावाप्तिरेव, तच्च तेनैव 'सद्यः परनिर्वृतये' इति वदता स्वीकृतम्। सा परानिर्वृतिः खलु बाह्यविषयान्तरप्रमोषपूर्वकं स्वात्मस्वरूपाऽविभिन्ने भगवति परमानन्दसमुद्रे मज्जनात्मिका इति कथञ्चिद्वक्तुं शक्यम्।

अयमेवार्थः शब्दान्तरैरेवमुच्यते—चिदात्मन आनन्दांशस्य आवरणभङ्ग इति। उक्तञ्च-चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एवेति ग्रन्थान्तरे। अयं हि रसास्वादमहोत्सवः कविकुलगुरोः कृतिषु यथानुभूयते विशेषतस्तदीये मेघदूते न तथाऽन्यत्रेति वक्तुं न शङ्कावकाशः स्वल्पोऽपि शिष्यते। एतदभिप्रायेण दशरूपककारोप्याह—

"आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥"

रामायणमहाभारतादीनामुपजीवनेनैव प्रवृत्तानि प्राचां कवीनां वचःस्रोतांसि, परं न केवलं कथावस्तुमात्रानुवादे तेषां तात्पर्यमपितु नवनव-

सोल्लासमहिम्नैव जेगीयते । तदुक्तं ध्वन्यालोककारेण--"नहि कवेरितिवृत्तमात्र-निर्वाहेण आत्मलाभः इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः" इति ।

"व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां कवित्वलाभो महाकवीनां न वाच्यवाचकरचनामात्रेण" इति च ।

कालिदासीये वाङ्मये विमर्शविषयीकृते किन्नाम तद्वस्तु यन्न नयन-गोचरतामुपयाति । स्वाभाविकञ्चेदम्—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहोभारो महान् कवेः ॥

इत्यभियुक्तोक्तिः कालिदासवचसि सर्वात्मना सङ्गच्छते । किन्तु वयमल्पी-यसी कालखण्डे वर्तमाना अंशांशग्रहणेऽप्यप्रगल्भाः कतिपयैरेव शब्दप्रसूनैः मेघदूतस्य रसपक्षं किञ्चिदुपस्थाप्य महाकवेः सपर्यां निर्वर्तयितुं कामयामहे ।

मेघदूतीयं कथावस्तु उत्पाद्यं कविना नूतन एव दूतवृत्तान्तो मेघमवलम्ब्य प्रादर्शि । ऐतिहासिककथावस्त्वपेक्षया स्वोत्प्रेक्षिते वस्तुनि निर्वाहः कठिनतरो भवतीति ध्वनिकारादयोऽपि वदन्ति ।

यद्यपि मल्लिनाथः प्राचामुक्तिमेवमनुवदति--"सीतां प्रति रामस्य हनूम-त्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवानित्याहुः" इति तदुपोद्बलकानि कानिचित् स्थलान्यपि दृश्यन्ते । यथा—

'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' 'रामगिर्याश्रमेषु' 'रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु' 'दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः' 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा' इत्यादीनि । यक्षपत्न्याः सीतायाश्च विरहावस्थावर्णनसादृश्यमपि दृश्यते तथापि न कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहे संरम्भः ।

विभावानुभावसञ्चारिणां प्रपाणकरसन्यायेन साधारणीकरणे सम्पन्ने रसास्वाद इति काव्यतत्त्वविदः प्रतिपद्यन्ते । अस्मिन्महनीये दूतकाव्ये-

यक्षस्तत्पत्नी च परस्परालम्बनभूतौ, प्रावृट्कालः, पुनरुद्दीपनविभावः, सन्देशप्रेषणाश्रुपातादिरनुभावः, आवेगदैन्यादिः सञ्चारिभावश्चेति भावना स्थितिः।

सहृदयसमाजः काव्यनाट्याद्यनुसन्धानवेलायां प्रथमतो नटादिबुद्धिं गृह्णाति। 'अयं नटो नटी वेति' तदनु शिक्षाभ्यासादिवशाद् रामोऽयं, दुष्यन्तोऽयं, सीता शकुन्तला वा इयमिति बुद्धिरुन्मिषति ततः परं नायको नायिका वा इति बुद्धिः तदनु धाराधिरोहणक्रमेण रसोत्कर्षे केवलं 'आनन्दः आनन्दः' इत्याकारिका चित्तवृत्तिः, सा चानुभवैकगोचरा समाधिदशाया इव रसास्वाददशाया व्युत्थानकाले केवलं शब्दैस्तस्यानुवादः क्रियते। तदुक्तम्—

"पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्" इत्येवंविधायां रसास्वाद-धारायां सर्वैर्विद्वद्भिरङ्गीकृतायामपि कविकुलगुरुः प्रतिभोल्लासमहिम्ना प्राथमिकीं कक्षामुल्लंघ्यैव काव्यं प्रस्तौति—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनया स्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥

अत्र कश्चिदिति पदव्याख्यायां टीकाकृतो व्याचक्षते—'कश्चिदनिर्दिष्ट-नामा यक्षो देवयोनिविशेषः इति। कथावस्तु यत्र प्रतिष्ठितं तस्य नायकस्य, तद्रतेरालम्बनभूताया नायिकायाश्च नामनिर्देश एव नास्ति—

"या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः"
"तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्"

इत्यादिना सर्वनामपदैरेव तदभिधानात्। एवं कविना नायिकादिपरिचय एव न प्रदत्तः कुतस्तरां कथावस्तुन उपक्षेपो निर्वाहश्च संभवेत्। वैयाकरणा

अपि ब्रूयुः—"सर्वनाम्नां बुद्धिस्थतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने शक्ति" रिति सर्वोऽप्यर्थो बुद्धिस्थ एव न शब्दात्मक कविव्यापारगोचरतामुपयातु-मर्हतीति ।

एवंविधायां विप्रतिपत्तौ दरकुमुलितलोचनाः सहृदया विदाकुर्वन्तु—कविना बुद्धिपूर्वकमेव तथा विहितम् । नहि नायकादेर्नामकुलगोत्रादीनां रससिद्धौ किञ्चित्प्रयोजनं तस्य प्राथमिकक्षण एव परिक्षीणत्वात् । प्रतिपदं ध्वन्यमानै-रर्थैश्चमत्कृतचेताः सामाजिको नैव नायकादि परिचयमाकांक्षते तथाहि—"कान्ताविरहगुरुणा" इति विशेषणं शापस्य दुर्भरत्वं व्यञ्जयत् यक्षस्यानु-कम्पनीयतां प्रत्याययति अथवा कान्ताविरहे गुरुः शिक्षक इत्यर्थकरणेऽपि प्रकारान्तरेण स एवार्थो व्यज्यते ।

"अस्तङ्गमितमहिमा" इति विशेषणेनापि यक्षस्य दूरश्रवणदूरगमनादिकं सामर्थ्यं शापेनैवापगतमित्युक्तम् न पुनः "अस्तङ्गतमहिमा" इत्युच्यते । एतेन महिम्नोऽपगमे शाप एवापराध्यति, न पुनर्यक्ष इति कविहृदयपक्षपातः स्फुटं प्रतीयते । एवं "वर्षभोग्येण" इत्यत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया' 'अत्यन्तसंयोगे च' इत्यादि शब्दानुशासनवशात् समासे प्रतीयमानो वर्षा-वधिकः कालो दुस्तरतां व्यनक्ति, भर्तुः शापेन इत्युक्त्या स्वामिनो हि सेवकेषु साधारणापराधेऽपि दण्डोद्यता भवन्तीत्यभिप्रायः सम्बन्धषष्ठ्या सुतरां व्यज्यते ।

'रामगिर्याश्रमेषु' 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' इत्यनेन भगवत्याः पतिव्रताशिरोमणिभूतायाः जानक्याः सम्पर्कात्तादृशेष्वाश्रमेषु अधिवासात्सद्यः शापनिर्मुक्तिः संभाव्यते । 'स्निग्धच्छायातरुषु' इति सान्द्रच्छायाप्रधानन-मेरुवृक्षतले परिभ्रमणाऽऽवासादिव्यापारेण विरहतापापनोदने किञ्चित्साहाय्यं भवेदित्यर्थोऽपि व्यज्यते । 'आश्रमेषु' इति बहुवचनबलादेकत्रानवस्थानलक्षणा उन्मादाऽवस्था सूच्यते । किञ्च स्निग्धाः स्नेहशीलाश्छायातरवो यत्रेति व्याख्याने तरवोऽपि तथाविधां यक्षस्यावस्थामालोक्य च्छायाप्रदानेन तमनुगृह्णन्तीति व्यङ्ग्यार्थपरम्परया विप्रलम्भोत्कर्षः परां कोटिमधिरोप्यते ।

एवंविधैस्तत्तत्पदपदांशादि प्रतिपन्नैरर्थैरार्द्रीभूतचेताः सहृदयो रससरसी-तीरमवतरन् प्रथमां नामगोत्रादिजिज्ञासामतीत्यैव प्रवर्त्तत इति महाकवेः कालिदासस्यैव एवंविधं वैशिष्ट्यं नाद्यावधि कस्याप्यन्यस्य क्वचिद्दृष्टं श्रुतं वा।

रसाभिव्यञ्जनाय प्रवृत्तस्य कवेः शब्दार्थविन्यासे सावधानता सुतरामपेक्षिता। विप्रलम्भशृङ्गारः सुकुमारतरः ईषदपि व्यत्यासे तस्य हानिरिति मन्वानेन महाकविना तदनुगुणमेव मन्दाक्रान्तावृत्तमवलम्बितम्।

मन्दाक्रान्तायां चतुर्भिः, षड्भिः, सप्तभिश्चाक्षरैर्विरामो भवतीति विरह-विक्लवस्य नायकस्य सन्देशावसरे किञ्चिद्विश्रमस्य, निःश्वस्य, निश्वास-विच्छेदे कथनं शोभनं भवेदिति कवेराशयः। काश्मीरकेण कविना क्षेमेन्द्रेण सुवृत्ततिलके निरूपितमिदम्—

"मन्थराक्रान्तविश्रब्धैश्चतुर्भिःप्रथमाक्षरैः।
मध्यषट्केऽतिचतुरे मन्दाक्रान्ता विराजते॥

प्रायो मेघदूतपद्येषु यथोचितं सर्वत्रैव यतिविच्छेदः क्वचित् समाससन्ध्यादिकं वर्तमानमपि न प्रतिबन्धकमपितु रसानुगुणमेव। साकल्येन अर्थस्यानुसन्धानमपि अक्लिष्टतयैव तथाविधरचनया सम्भवत्येव।

"अर्थहीनोऽपि मधुरः शब्दो लोकप्रियङ्करः।
वीणावेणु मृदङ्गादीन्यत्रोदाहरणानि नः॥

इत्युक्तदिशा---

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैः जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

इत्युक्तनयेन च महाकवेरस्य रचनायां प्रसन्नमधुरायां शब्दविन्यासोऽपि तथाविधस्तालबद्ध इव प्रतीयते। यथा--

"विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

अत्र परस्परसांमुख्येन विशेषणविन्यासादर्थक्रमेण दृष्टिपथमवतरन् सहृदयहृदयचमत्कारमर्पयति, 'तुलयितुमलम्' इत्युक्तया उपमालङ्कारो भवन्नपि बिम्बप्रतिबिम्बभावेनैव दृष्टिपथमायातीति तन्मुखेन सादृश्यप्रतीतिरधिकचमत्कारकारिणी दृश्यते। क्रमेण क्रमिकाणां समन्वय इति नियमदर्शनात् यथासंख्यनामालङ्कारोऽपि अत्र वाच्यतया साहाय्यकमाचरति।

परस्परशोभाजननस्य प्रतीयमानत्वे अन्योन्यनामालङ्कारोऽपि ध्वनिमर्यादया भासते । एवमलङ्कारगवेषणायां कविसूक्तिरेषा कामधेनुरिव शतमलंकारान्प्रादुर्भावयेदिति प्रसक्तानुप्रसक्तिं विहाय प्रकृतमनुसरामः।

सम्भवन्तोप्यलंकाराः यदि न रसानुगुणास्तर्हि भारायमाणैस्तैः किं प्रयोजनम्। अत्र पद्ये मेघस्य प्रसादानाञ्च परस्परसादृश्यवर्णनया "समानशीलव्यसनेषु सख्य' मितिन्यायेन सौहार्दमुत्पाद्य सन्देशप्रापणे किमप्यानुकूल्यं हृदयावर्जकं प्रदर्शितं कविना इति सर्वोऽपि व्यवसायोऽयं रसास्वादप्रयोजक इत्येव नो विवेचनीयं वर्तते।

रसास्वादनव्यापारे स्वभावचित्रणं यदि साधु न क्रियेत, तर्हि महती हानिः। प्रायः कालिदासस्य नायकाः सर्वेऽपि धीरोदात्तस्वभावता नातिक्रामन्ति। मेघदूतमिदं कस्याप्यन्यस्य रचना यदि स्यात्तर्हि नूनं धीरललितप्रकृतिरेव यक्षप्रतिकृतिस्तत्रोपलभ्येत। मेघदूते तावत्--

"तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।

अन्तर्बाष्पत्वादयं स्तम्भिताश्रुः इति धीरोदात्तप्रकृतिः सूचिता कविना। इदमपि विप्रलम्भरसानुगुणमेव। 'प्रकृतीनां विपर्ययः' इति दोषप्रकरणे साहित्यकारैरिदं भृशं विविच्यते। एवममंगलपरिहारे सर्वथा जागरूकः कविकुलगुरुः यक्षस्य स्वप्नदर्शने—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥

अत्र—

महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि।
देशभ्रंशो महद्दुःखं मरणञ्च भवेद् ध्रुवम्॥

इति स्मृतिदर्शनात् किसलयेष्वेव स्थलीदेवतानां अश्रुपातं वर्णितवान् न भूमौ इत्यमंगलं परिहृतं भवति।

प्रियजनसादृश्येन मनोविनोदनं विरहिणां व्यापारः परं यक्षस्य रतेरालम्बनभूता प्रणयिनीसादृश्यमेव केनापि नार्हतीति प्रतिपादयितुं कविरुपक्रमते।

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति॥

अत्र लतादिषु पदार्थेषु यावत्तत्तदङ्गसादृश्यं सम्भावयामि तावदेव तस्य निःसारता चित्तमारोहति अहमनया सादृश्यसम्भावनयाऽपि कृतापराधोऽस्मि नूनं प्रणयिनी कुपिता इत्यर्थं मनसि निधाय सम्बुद्धिः चण्डि! इति।

अत्रायमर्थः सूक्ष्मतयाऽवधेयः-उत्प्रेक्षा नाम अनिश्चयात्मकं सम्भावनाकारं ज्ञानं, अनिश्चयात्मकसंभावनयाऽपि तत्तद्वस्तु तुलनापदं न लभते किं पुनर्निश्चयेन । एवं "हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डिसादृश्यमस्ति" इत्यनेन 'हन्त' इत्युपमानान्वेषणनिष्फलतया विषादसूचकं निजप्रणयिन्याः सौन्दर्यस्यालौकिकत्वात् हर्षसूचकमपि ।

"हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः" इति कोशात् ।

पर्य्यवसाने नायिकासौन्दर्यस्य निरूपमताप्रतीतिरेव मुख्या । विप्रलम्भश‍ृंगारस्य रसान्तरातिशायित्वं कविना स्वकण्ठरवेणोक्तम्, नायं यक्षश्चलप्रकृतिः किन्तु स्थिरस्वभावः तदीयं प्रेमापि तादृशमेव ।

"स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥

अत्र स्नेह-प्रेमशब्दयोः पौनरुक्त्यं नाशंकनीयम् क्रमेण स्नेहशब्दस्य स्प्रवणत्वमर्थः, प्रेमशब्दस्य वियोगासहत्वं चार्थः । अभोगादेव इष्टे वस्तुनि स्नेहाः प्रेमराशी भवन्ति उपचयं प्राप्नुवन्ति इति तदर्थः । एवम्—

'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागः प्रवर्धते ॥

इत्युक्तदिशा श‍ृंगारस्यावतारक्रमोऽपि प्रदर्शितः ।

एवं सर्वांगीणं परिशुद्धं प्रेम दर्शयता महाकविना मेघदूतव्याजेन किमप्यद्भुतं काव्यं सहृदयहृदयानन्दाय समुल्लासितम् ॥

बाणःकालिदासमनुहरति

वाग्देवताविलासस्य कालिदासस्य भारती ।
स्वीकृता निजया भङ्ग्या बाणेनेति विविच्यते ॥

अत्र तावत् सूक्ति-रमणी-हृदय-पञ्चबाणस्य भट्टबाणस्य कविकुलगुरुकल्पनानुसरणचातुरी किञ्चिद् विचारयितुमुपक्रम्यते कालिदासात्परवर्तिषु कविषु द्वावेव तादृशौ ख्यातौ, याभ्यां कालिदासानुकरणे स्वप्रतिभोद्भावने च काचित्कवित्वसमुचिता विशिष्टा स्वसरणिः प्रादर्शि । तयोरेको बाणभट्टः अपरश्च भवभूतिः ।

तत्र भवभूतिविषये कैश्चिद्विद्वद्भिस्तुलनादृक् उन्मीलिता लिखितमपि यत्र-तत्र परिदृश्यते । बाणमधिकृत्य तु न कृतस्तथा प्रयासः कैरपि कृतोऽपि वा नास्माकं दृशोर्गोचरीभूतः अतस्तत्र प्रवृत्तिरियं दिङ्मात्रप्रदर्शनाय ।

महाकविकालिदासस्य प्रथममेव सुस्पष्टतयोल्लेखो भट्टबाणस्य हर्षचरिते 'ऐहोल' इति ख्यातस्थानादुपलब्धे शिलालेखे च वर्तत इत्यामनन्ति संशोधनकोविदाः । नामग्राही अनयाऽपि दृष्ट्या कालिदासानन्तरभावी प्रथमः प्रख्यातः कविर्भट्टबाण एवेति प्रतीयते । स च कालिदासात्कियत्प्रमाणं काव्यतत्वं प्रतिजग्राहेति सम्प्रति विवेचनीयं वर्तते । तत्रापि हर्षचरिते भट्टबाणः प्रत्यक्षसंवृत्तवृत्तान्तलेखमर्यादया बद्धस्तादृशं प्रतिभाप्रभावं पर्यवस्थापयितुं नाऽशक्नोत् यथा कादम्बरीनिर्माणावसरे । कादम्बर्यैव च भट्टबाणस्य प्रतिभानिकषभूमिः । अतः प्रधानतया तत्रत्यानि स्थलानि महाकविकालिदासप्रतिभाप्रतिच्छायारञ्जितानि विवेचयिष्यन्ते ।

कादम्बरीमंगलाचरणे प्रथमं पद्यमिदम्—

'रजोजुषे जन्मनि सत्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे ।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥

इति । रघुवंशे दशमसर्गे रामजन्मवृत्तान्तात्पूर्वं देवैः क्रियमाणायां विष्णुस्तुतौ प्रथममिदं पद्यम्—

नमो विश्वसृजे पूर्व विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥इति॥

अस्यैव कालिदासकृतस्य श्लोकस्य सूत्ररूपस्य व्याख्या बाणभट्टकृतेन मङ्गलाचरणेन प्रकटीभवति । कालिदासेन केवलं सृष्टि-स्थिति-संहारकारिता भगवतो वर्णिता । बाणेन तस्यां तत्तद्गुणहेतुकताऽपि परिवर्धितेति विशेषः ।

कादम्बरीमूलकथा बृहत्कथातः संगृहीता बाणेन परमिदानीं बृहत्कथाया अनुपलब्ध्या रूपान्तरं बृहत्कथामञ्जरीरूपेण कथासरित्सागररूपेण च समुपलभ्यते । बृहत्कथागता कादम्बरीमूलकथा कथासरित्सागरस्य ऊनषष्टितमतरङ्गान्तर्गतमकरन्दिकोपाख्याने द्रष्टव्या । तत्रत्यानां पात्रदेशकालादीनां बाणेन स्वेच्छया यत्परिवर्तनमकारि तत्र भूयान् महाकवेः कालिदासस्यैव प्रभावः । यद्यपि कथासरित्सागरस्य काल एकादशशतकासन्नः परं बृहत्कथायाः मूलरूपमेव बाणेन गृहीतमित्येव निश्चित्य ततो भेदःप्रदर्श्यते ।

कथासरित्सागरस्य काञ्चनपुरी बाणस्य विदिशा सञ्जाता । एवं रत्नाकरपुरमेवोज्जयनीरूपेण समायातम् । हिमालयपादे रोहिणतरुर्विन्ध्याटव्यां शाल्मलीतरुत्वं प्राप्तः । एवमेव सुमनाः शूद्रकः सञ्जातः, ज्योतिष्प्रभः सोमप्रभश्च क्रमेण तारापीडत्वं चन्द्रापीडत्वं च प्रापितौ । मनोरथप्रभा महाश्वेतारूपं मकरन्दिका च कादम्बरीरूपं दधार । अन्यान्यपि पात्राणि देशकालावस्थाश्च भेदेनैव रूपान्तरं ग्राहितानि भट्टबाणेन । कवेः पात्रादि परिवर्तने कथावस्तुचित्रणे च निरंकुशं स्वातन्त्र्यमिति तत्र नास्माकं किमपि वक्तव्यमस्ति । विचारणीयमेतावन्मात्रमेव यत् एवंविधपरिवर्तनसमये भट्टबाणस्य मनीषादर्शे किमासीत् प्रतिबिम्बितम् ? मम तु प्रतिभाति महाकवेः कालिदासस्य भारती तत्र प्रेरणा हेतुत्वं भजते ।

उपक्रम एव विदिशावर्णने—"वेत्रवत्या परिगताविदिशाऽभिधाना नगरी राजधान्यासीत्" इति बाणोक्तिः पूर्वमेघे विद्यमानं पद्यं स्मारयति । यथा—

"तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्ध्वा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥इति॥

अस्य श्लोकस्य प्रथमपादे वर्तमाना 'प्रथितविदिशालक्षणां राजधानी"मिति पंक्ति—बाणभट्टप्रतिभाध्वनि सञ्चरन्ती मुखान्निर्ययौ "विदिशाऽभिधाना-नगरी राजधान्यासीद्" इत्येतैः शब्दैः । मेघस्य वेत्रवत्याश्च परस्परं प्रणयबन्धः, कामुकत्वसाफल्यञ्च बाणेन पूर्वनिर्दिष्टवाक्ये वेत्रवती विशेषणेष्वाहितं यथा—"मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया जलावगाह-नागतजयकुञ्जरकुम्भसिन्दूरसन्ध्यायमानसलिलया" इत्यादिभिः शब्दैः । बाणः स्वप्रतिभया रूपान्तरापादने नितरां पटुरिति तु स्वीकर्तव्यमेव । एवं पुरतश्चाण्डालकन्यकावर्णने-'यक्षाधिपलक्ष्मीमिव अलकोद्भासिनी' इति श्लिष्ट-शब्दानादाय बाणो यक्षनगरीमलकां स्मरति ।

एवं पम्पासरोवरवर्णने कालिदासवाक्यानि सूत्ररूपेणादाय बाणो विस्तृत-तरान् कल्पनाप्रवाहान् प्रावर्तयत् । यथा--

"उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥

इति पद्यमादाय"...............सारसितसमदसारसं, उपान्तकेतकीरजःपटल-बद्धकूलपुलिनं...............वनराजिभिरुपरुद्धतीरं........, इत्यादि........"अग्रे च पम्पाभिधानं पद्मसरः इति । मध्ये चास्य बहूनि विशेषणानि सन्ति परं मूलभूतान्येव कानिचिद् प्रदर्शितान्यत्र । पूर्वोक्तश्लोकस्यैवाग्रे कालिदासो लिखति । यथा—

"अत्राऽवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! सस्पृहमीक्षितानि ॥

इति पम्पासरोविहारिणां चक्रवाकानां वर्णनं बाणेन भङ्गचन्तरेण पूर्वोक्तमेवोपात्तं यथा—

"यत्र च विकचकुवलयप्रभाश्यामायमानपक्षपुटान्यद्यापि मूर्तिमद्रामशापग्रस्तानीव मध्यचारिणामालोक्यन्ते चक्रवाकनाम्नां मिथुनानि" इति। अत्र कुवलयप्रभासम्पर्कं वर्णयितुं शापकल्पना कृता। पूर्वत्र 'रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि' इति कालिदासोक्तिः इह तु चक्रवाकनाम्नां मिथुनानि' इति बाणोक्तिः बाणस्य बुद्धौ कियान् कालिदासप्रभाव इत्येतावतैव शक्यमनुमातुम्।

एवं जाबाल्याश्रमे सर्वोऽपि कविकुलगुरोरभिप्रायः परिगृहीतो बाणेन। यथा रघुवंशे—

"सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥

इति नन्दिनी वर्णनमेव "क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्यातपोधनैरदृश्यत ।" इति बाणोक्तौ प्रतिबिम्बितमवलोक्यते। अत्र तुलनया कालिदासकल्पनायां यद्रामणीयकं तद्बाणो नैव प्राप्तवानीति कथनीयमापतति। कालिदासेन सूर्यप्रभामुद्दिश्य कृतं वर्णनं सन्ध्यायां योजितं बाणेन। सूर्यप्रभानन्दिन्योः प्रसन्नश्लेषेण यथा तिलतण्डुलवत्पृथगर्थोपलब्धिर्न तथा बाणोक्तौ प्रतिभाति। पावित्र्यातिशयः सादृश्यञ्चेत्युभयं प्रतिपाद्यं कालिदासस्य। बाणस्य तु कपिलासन्ध्ययोः साम्यमात्रम्।

इत्थमेव कालिदासस्यालकावर्णनमुपजीव्य उज्जयिनीवर्णने भूयान् संरम्भो भट्टबाणस्य प्रतिभाति। महाकविना सूत्ररूपेण यदुज्जयिनीवर्णनमुपक्रान्तमासीत्—

"स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गाङ्गतानाम् ।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥

इत्युक्त्या मन्ये तदेव भट्टबाणेन शतशो गद्यप्रवाहैर्व्याख्यातम्। तत्र च परिगृहीताः कामं कविकुलगुरोः प्रतिभामयूखाः। स्थालीपुलाकन्यायेन तत्रत्यान् काश्चिदंशानुद्धरामः—

"आत्मनिवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन·····प्रमथनाथेन अपरेव पृथ्वी समुत्पादिता" इति बाणोक्तिः—

"भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः।
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य॥

इत्यनया कालिदासोक्त्या संवदति।

"गगनपरिसरोल्लेखिशिखरमालेन कैलासगिरिणेव सुधासितेन प्राकार-मण्डलेन परिवृता" इत्येषा भणितिः।

अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः।
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥

इत्युत्तरमेघ प्रथमपद्यमनुहरति।

इत्थमेव क्षिप्रावर्णने—

"यौवनमदमत्तमालवीकुचकलशलुलितसलिलया भगवतो महाकालस्य शिरसि सुरसरितमालोक्योपजातेर्ष्ययेव सततसमाबद्धतरङ्गभ्रुकुटिलेखया खमिव क्षालयन्त्या क्षिप्रया परिक्षिप्ता" इति बाणगद्यरेखा—

"तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जन्होः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम्।
गौरी वक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥"

इति पूर्वमेवस्थं गङ्गावर्णनं स्मारयत्येव। अत्रापि पूर्वनिर्दिष्ट क्षिप्रावर्णनापेक्षया कालिदासोक्तौ भावगाम्भीर्यं सौन्दर्योन्मेषश्च समधिक इति सूक्ष्मेक्षिकया प्रतीयते। क्षिप्रा तु हरशिरसि गंगामालोक्य समुपजातेर्ष्या तरंगभ्रू कुटि बध्नती क्रोधोद्धत यातीति बाणस्याशयः।

कालिदासस्त्वभिप्रैति यत् हरस्य भगवतो देहार्धधारिण्या जगदम्बया गौर्या सह स्पर्धमाना गङ्गासाफल्यमवाप। यतः साऽपि शैलराजस्य पुत्री। तस्मान्न आभिजात्ये न्यूनता। सगरपुत्राणां उद्धरणात्तस्याः पापापनोदने सामर्थ्यमपि सुप्रथितम्। 'फेनव्याजेन विहस्येति' कालिदासोक्तौ विशेषः। सपत्न्याः पुरत एव वल्लभस्य केशग्रहणमकरोदिति नायिकायाः सौभाग्योत्कर्षः कविना सर्वाङ्गीणतया समुन्मीलितः। अन्यच्च—"यस्याञ्च ·········व्यर्थीकृतसुरतप्रदीपा सञ्जातमदनानलदिग्दाहा इव यान्ति कामिनीनां भूषणप्रभाभिर्बालातपपिञ्जरा इव रजन्यः। इति बाणोक्तेः प्रेरणाभूमिः।

"अर्चिस्तुगांनभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्।
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥"

इत्यलकावर्णनसरणिरेवेति प्रतिभाति।

इत्थमेव चन्द्रापीड़दिग्विजयप्रयाणवर्णने बहुलं रघुवंशस्य रघुदिग्विजयसादृश्यं तत्र-तत्र वर्णनावसरे पुरः स्फुरति।

दिङ्मात्रं यथा—"जर्जरयन्वसुन्धरां, उत्सिञ्चन् सरितः, रिक्तीकुर्वन् सरांसि, चूर्णयन् काननानि, समीकुर्वन् विषमाणि, पूरयन्निम्नानि, नमयन्नुन्नतान् उन्नमयन् अवनतान्, प्रतिच्छन्नुपायनानि" इत्यादिचन्द्रापीडस्य प्रयाणवर्णनं रघोर्वर्णनञ्च। यथा—

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥ इति।

स्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्वणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥

इति च संवदत्येव ।

चन्द्रापीडस्य प्राच्यादिप्रादक्षिण्यक्रमेण प्रयाणं यथा—

"प्रथमं प्राचीं, ततस्त्रिशङ्कुतिलकां, ततो वरुणलाञ्छनमनन्तरञ्च सप्तर्षिताराशबलां दिशं विजिग्ये ।"

अस्य गद्यभागस्य प्रथमापङ्क्तिः कालिदासादेव गृहीता यथा—

"स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
अहितानिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥

इति रघोरपि प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन दिग्विजययात्रायाः क्रमो वर्तते ।

चन्द्रापीडस्य विद्याभ्यासानन्तरं राजकुलप्रत्यावर्तनकाले नगरसुन्दरीणां राजपुत्रविलोकनौत्सुक्यवर्णनं कालिदासस्य रघुवंशकुमारसंभवयोर्निर्दिष्टया वरयात्रावलोकिनीनां पुराङ्गनानां वर्णनया भूयसा साम्यं भजते । दिङ्मात्रं यथा—

बाणोक्तिः—काश्चिदार्द्रालक्तकरसपाटलितचरणपुटाः कमलपरिपीतबालातपा इव नलिन्यः इति । कालिदासोक्तिः—

"प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्ट लीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥

एवं बाणस्योक्तिः—

"काश्चित् ससंभ्रमगतिविगलितमेखलाकलापाकुलितचरणकिसलयाः शृङ्खलासन्दानमन्दसञ्चारिण्य इव करिण्यः" इति ।

कालिदासस्योक्तिः—

"अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्नमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रसना तदानीमगुंष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥

इति च । इत्युभयोः स्थलयोर्यदि क्रियते परीक्षणं तर्हि स्फुटीभवति कालिदासस्य वस्तुवर्णने प्रसादातिशयो भावप्राधान्यञ्च । बाणस्य भरः केवलमुपमायामेव दृश्यते ।

अन्या चात्रैव सन्दर्भे बाणोक्तिर्यथा—

"अन्याश्च मरकतवातायनविवरविनिर्गतमुखमण्डला विकचकमलकोषपुटामम्बरतलसञ्चारिणीं कमलिनीमिव दर्शयन्त्यो ददृशुः । इति ।

तस्मिन्नेवार्थे कालिदासस्य पद्यं यथा—

"तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवाऽऽसन् ॥

बाणेन मरकतवातायनकल्पनामुद्भाव्य किञ्चिन्नवीकरणाय कृतो यत्नः किन्तु ततोऽपि प्रसन्ना नेत्रभ्रमरभाजामाननसहस्रपत्राणां कल्पना कविकुलगुरोरिति को नाम सचेता नाऽभिमन्येत । एवं कियद्वा उदाह्रियताम् । बहूनि स्थलानि पुरस्तादापतन्ति विचार्यमाणानि ।

'चन्द्रापीड' पदं पर्यायेण भगवतः शिवस्य वाचकं, महाश्वेता पदं गौर्याः सूचकमप्रत्यक्षरूपेण भट्टबाणस्याऽचेतने चित्तभागे कुमारसंभवादिगतानां वस्तूनां प्रतिबिम्बसत्तां सूचयतीति मन्ये ।

महाश्वेतायां स्वरूपवर्णने कियताप्यंशेन तपस्यन्ती गौरी प्रतिबिम्बितेवाभाति ।

"यथाप्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥

कालिदासोक्त्या "बालरश्मिप्रभाभिरिव निर्मिताभिरुन्मिषत्तडित्तरलतेजस्ताम्राभिरचिरस्नानावस्थितविरलवारिकणतया प्रणामलग्नपशुपतिचरणभस्मचूर्णाभिरिव जटाभिरुद्भासित शिरोभागाम्" इत्यादि बाणोक्तिस्तुलनीया।

अन्यदपि तत्रैव द्रष्टव्यम्—

विमुच्य साहारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति॥

इत्येषा महाकवेरुक्तिरेव---

गौरींसिंहसटामयेनेव चामररुचिराकृतिना स्तनयुगलमध्यनिबद्धग्रन्थिना कल्पतरुलतावल्कलेन कृतोत्तरीयकृत्याम्" इति बाणरचनायां पदमादधौ। गौरीपदग्रहणेन च स्फुटमेव गौरीकथायाः कुमारसंभवस्थायाः स्मृतिः स्वसत्तां प्रमाणयत्येव।

कुमारसंभवे पूर्वरागः जन्मान्तरसम्बन्धमूलकत्वेन विप्रलम्भो वा शृंगाररसः कल्प्यते महाश्वेतावृत्तान्ते तु करुणविप्रलम्भ इति ततो भेदः।

न चैतावता बाणस्य रचनायां मूलभूता प्रतिभैव नासिदित्यस्माकमभिप्रायः किन्तु बाणस्य प्रतिभातिशयो महाश्वेतावृत्तान्तादेव प्रवर्तमानः परिलक्ष्यते। पुरतश्च भावोद्रेकस्य तत्तच्चित्तवृत्तीनामारोहावरोहयोर्यादृशं चित्रणं बाणकृतौ तादृशमन्यत्र कुत्रापि साहित्यक्षेत्रे दुर्लभमित्येव दृढं प्रतिपादयामः।

परमेतावत् सत्यं यत् बाणप्रतिभायाः प्रेरणा महाकविकालिदासकृतिभ्य एवोन्मिषितेति।

संस्कृतसाहित्यशास्त्रीयदृष्ट्याऽन्यसादृश्यस्य त्रयः प्रकाराः---१ प्रतिबिम्बकल्पम् २ आलेख्यप्रख्यम् ३ तुल्यदेहिवच्चेति।

तत्र पूर्वप्रकारद्वयं न विशेषतः शोभावहं जीवितायमानस्य काव्यतत्वस्य तत्राभावात्।

तृतीयस्तु प्रकार आश्रीयते महाकविभिः। अतएव बाणेनापि तदेव विहितम्। यदुक्तं ध्वन्यालोके—

"तत्त्वस्यान्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥

इति । "पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तुशरीरवत्परां शोभां पुष्यति । न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते।" अनया सरण्या कालिदासरचनाऽनुगृहीता बाणसरस्वती कमप्यद्भुतं विलासमाविश्चकारेति समञ्जसमेव सर्वम् ।

महाकवि कालिदासात्परवर्तिषु सर्वष्वेव महाकविषु तदीयप्रतिभालोकसम्पातादेव वाङ्मयविकासः समजनि इति को नाम नांगीकुर्यात् ?

मम्मटकालिदासयोर्विचारवीचयः

कालिदासरचनासु दूषणं मम्मटेन परिकल्पितं तु यत् ।
तस्य भूषणपदत्वसिद्धये तन्यते नवनिबन्धगुम्फनम् ॥

काव्यप्रकाशे प्रथमत एव काव्यप्रयोजनविचारावसरे 'काव्यं यशसे' इति प्रतीकं विवृण्वन्नाचार्यमम्मटः "कालिदासादीनामिव यशः इति" यशस्वितायां कालिदासस्य तदानीमपि प्रतिभटः कश्चिन्नासीदित्यावेदितवान् । एतेन

कविपरम्परायां कालिदासो निरुपम इत्यत्र न मम्मटस्यापि विप्रत्तिपत्तिरासीदिति स्फुटीभवति ।

भुवनोपजीव्यत्वं खलु महाकवेः कालिदासस्य । कालिदासादनन्तरं सुरभारतीं सेवमानेषु कविमूर्धन्येषु को वा तदीयसूक्तीनामधमर्णो नास्ति, भवभूतिर्बाणो वा भारविर्माघो वा तदीयसरणिमनुसृत्यैव निजां कविकर्मनैपुणीमधिरुरोह इत्यत्र नास्ति स्वल्पोऽप्यवसरो विचिकित्सायाः ।

तत्र भवता समीक्षकशिखामणिना क्षेमेन्द्रेणापि कवित्वसंस्कारोपजननाय कालिदासप्रबन्धपरिशीलनं मुख्योपायतया निर्दिष्टम्—

"पठेत्समस्तान् किल कालिदासकृतप्रबन्धानितिहासदर्शी ।"

इत्यादि वदता । एवंविधायामपि स्थितौ गुणदोषपरीक्षणनिकषोपलानां मम्मटादीनां दोषदर्शनविचारावसरे महाकवेः कालिदासस्य भारती "हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा" इति तदुक्तरीत्या कियतीमात्नो निर्दुष्टतां प्रमाणयितुं प्रागल्भत इति विचारयामः । तत्र प्रथमतस्त्रिविधाश्लीलदोषोदाहरणप्रसंगे—

"मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सतिकुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥

इति विक्रमोर्वशीयस्थे पद्ये 'विनाशात्' इति पदेन मरणरूपममंगलं व्यज्यते । वाच्योऽर्थस्तु प्रियाया अत्यन्तमदर्शनमित्येव । तस्मादमंगलव्यञ्जकत्वादिदमसाधु इति मम्मटस्याशयः । तत्रेदमालोचनीयम्—

प्रकरणादिज्ञानस्य बलवत्त्वात् नाशपदाददर्शनमेव पुरः स्फुरति । तत्रैव वक्तृतात्पर्यविश्रान्तिः । ननु व्यञ्जनाया बाधितार्थबोधकत्वमपि धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति नयेन वाच्यार्थं बाधित्वापि वैयञ्जनिकबोधो भवेदेव पदस्यैव तत्रापराधात् इत्यपि न सुवचम् । यतोऽत्र नृत्यन्तं मयूरं प्रेक्ष्य तस्य हर्षकारणं-

विचिन्तयन्तो राज्ञ उक्तिरियम्। उर्वश्या अत्यन्तापगमादेव स्वप्रतिद्वन्द्विकेश-कलापापगमः। अतएव मयूरो नृत्यतीति राजाऽवगच्छति। किञ्च विरहस्य पराकाष्ठामधिरूढ़स्य नायकस्य पुरूरवसः पुनरपि प्रियासङ्गमो भवेन्नवेति सन्दिहानस्य तादृशी भणितिः परं बिप्रलम्भोत्कर्षं सूचयति तदीयामुन्मा-दावस्थाञ्च। स्फुटमेतत् तत्प्रकरणालोचने नेति निरवद्या महाकविसूक्तिः प्रतिभाति। एवं---

"स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती
पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण
द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य॥

इति कुमारसम्भवस्थे पद्ये पार्वत्या परिधृतायां केसरदामकाञ्च्यां कामधनुषो मौर्व्या द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यमासीत्। परं तद्द्वितीयत्वं कर्मधारयसमासे परपदार्थ प्राधान्यात् गुणीभूतमिति विधेयस्यानिर्वाहात् अविमृष्टविधेयांशो नाम दोष इति मम्मटो विवेचयति। तत्रेत्थं समाधीयते---

न खलु मौर्वीगतं द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यमिति राजाज्ञा। उत्प्रेक्षायां क्वचिद्विषये कस्यचिद्विषयिणः सम्भावना क्रियते। इह "केसरदामकाञ्ची" उत्प्रेक्षाया विषयः विषयी तु कामस्य द्विवतीयमौर्वी न च द्विवतीयत्व-विशिष्टमौर्व्युत्प्रेक्षायां किमपि वाधकं प्रतिभाति।

एका प्रसिद्धा मौर्वी कामस्य सर्वविदिताऽस्त्येव। इयन्तु द्वितीया कामस्य मौर्वीति कवेराशयस्याकलनात् समञ्जसमिदमेव। किञ्च यदि द्वितीयत्वमा-त्रस्योत्प्रेक्षणं न मौर्व्यास्तर्हि विषयविषयिभावो नोपपद्येत। केसरदाम-काञ्च्याः सम्भावनायां विषयत्वं कामस्य द्वितीयमौर्व्याश्च संभावनायां विषयित्वमिति व्यवस्था भग्ना स्यात्। "नागृहीतविशेषणाबुद्धिर्विशिष्टे चोप-जायत" इत्यादि नियमानुसन्धानाच्च कालिदासोक्तमेव रमणीयम्। तथैव—

"वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥

इति बटुवेशधरेण हरेण साभिप्रायमारब्धायां हरनिन्दायां तद्धितार्थं गुणीभूतेऽन्यपदार्थे विधेयस्य गुणीभावः। यथा "वपुर्विरूपाक्ष" मित्युक्तम्, तथैव अग्रेऽपि "जनिः अलक्षिता" इति वाच्यम् येन जनुषोऽलक्ष्यत्वेन हरस्य निन्दाधिक्यं प्रतीयेत।

कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्ठान्नमितरे जनाः॥

इति न्यायेन सकलबन्धुजनाभ्यर्थनीयं कुलमपि हरस्य नास्तीति कवेराशयः। स च 'अलक्ष्यजन्मता' इति पदेन न स्फुटभावमुपयाति इति मम्मटोऽभिप्रैति। तस्मादत्रापि अविमृष्टविधेयांशो जागरूक एवेति स्थितौ कालिदासपक्षादुच्यते—

यथा 'वपुर्विरूपाक्ष' मित्यत्र वपुरुद्दिश्य विषमेक्षणत्वं विधेयभावेन व्यवस्थापितं न तथा 'अलक्षिता जनि' रित्यत्र उद्देश्यविधेयभावावगमो भवति, किन्तु पदगतदोषोद्धारेऽपि वाक्यदोषप्रसङ्गः शिरस्यापतति। तथापि "न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः" इत्यादिवदत्रापि पदयोर्वैपरीत्येन सन्निवेशात् "जनिः अलक्षिता" इत्येवं रूपतया वक्तव्येऽपि तद्विपरीताभिधानात् वाक्यगतं अविमृष्टविधेयांशत्वं दुष्परिहरमेव ।

अन्यच्च—'अलक्ष्यजन्मता' इति पदेनापि जन्मतः कुलगोत्रादेरविज्ञानमित्यर्थः स्फुटीभवत्येव। भावार्थकः 'तल' प्रत्ययोऽपि अलक्ष्यत्वं स्फुटमवगमयति तदुद्देश्येनैव तस्य प्रयोगात्। अत्र वाक्यार्थपर्यालोचने स्वल्पमपि दूषणं नावशिष्यते यत् उत्तरार्धे निर्दिष्टमिदं समष्टिरूपेण यद्वरेषु यत्किमपि

वर्णनीयतोपयुक्तं जनैरन्विष्यते तदेकमपि वस्तु हरे नास्तीति पूर्वार्धे व्यष्टिरूपेण पृथग्वाक्यविन्यासैर्निर्दिष्टम् वपुः विरूपाक्षं, अलक्ष्यजन्मता, वसु दिगम्बरत्वेन निवेदितमेवेति। पूर्वोत्तरार्धयोः परस्परसाकाङ्क्षता उत्तरार्धे स्फुटतया प्रतिपादनाच्च तदन्वयितया पूर्वार्धस्य तत्र स्वल्पोऽपि विधेयांशतिरस्कारो नानुभूयते। क्रियान्वयेन स्फुटतयाऽर्थावगमे तदन्तर्गतानां समासादीनामकिञ्चित्करत्वात्। अतएव सारबोधिनीकारेणाप्युक्तम्।

"वस्तुतस्तु त्रिलोचने जन्मनोऽप्यसिद्धतया विशिष्टस्यालक्षितजन्मनो विधेयतया अलक्षितेत्यस्य विशेषणस्य पूर्वोपादनमुचितमिति रचितः पाठः समीचीन" इति। एवमग्रे पदांशगतदोषोदाहरणप्रसंगेन कुमारसम्भमवीयमधस्तनं पद्यमुदाहारि मम्मटेन—

'तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरुदेवकार्य
मर्थोऽयमर्थान्तर लभ्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै
बीजांकुरःप्रागुदयादिवाम्भः॥

अत्र 'द्ध्यै' 'ब्ध्यै' इति कटु इति मम्मटस्याशयः। तट्टीका कृतोऽप्येवं व्याचक्षते—"प्रार्थनेऽतिमधुरभाषणस्यैवौचित्येन अस्यात्र दोषत्वम्" इत्युद्योतकारः। "अत्र नायकनायिका वृत्तान्तरूपरसस्य सम्भवात्तद्व्यञ्जकवर्णवैधुर्येणास्य दूषकतेति" सारबोधिनीकारः।

तदेतत्सर्वमप्रासंगिकम्। तथाहि—कामेन शिवं प्रति वशीकरणोद्योगे स्वीकृते इन्द्रस्तद्गमनमनुजानातीति प्रसंगः। अत्र स्फुटतया कस्यादि रसस्य भावस्य वा नोपलब्धिः येन तद्विघाताशंका जायेत। परम्परया रसस्पर्शस्तु सर्वत्रापि काव्ये स्वीकृत इति तद्वि चारानुधावनं व्यर्थमेव। यदि वर्णयोरनयोः श्रवणोद्वेजनकरत्वमनुभवसाक्षिकं सहृदयानां तर्हि कं वा रसभावादिकं प्रतिबध्नीयादियं पदांशद्वयी?

कामस्य प्रशस्तिस्तु कृतैव मघवता। यथा—

"बिजाङ्कुरोत्पत्यै सलिलं यथा प्रधानकारणायते तद्वत् स्कन्दस्योद्भवाय भवान्" इति वदता। तदेवमर्थस्यापि स्फुटतयोपलब्धौ कटुत्वेनाभिमतयोः पदांशयोरर्थप्रतिबन्धकत्वमपि नास्तीति दूषकता बीजाऽन्वेषणे निर्मूल एवायमाक्षेपः प्रतिभाति।

इतोऽग्रे पदांशगत-निहतार्थदोषोदाहरणत्वेन पद्यमिदमुपन्यस्तं मम्मटेन—

"यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां
सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागा-
मकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्॥

इति। अत्र हिमालयोत्कर्षवर्णने "धातुमत्ताम्" इत्यत्र धातवो गैरिकादयः सन्त्यस्येति धातुमान् तस्य भावो धातुमत्तेति कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धामिधानं भावप्रत्ययेनेति न्यायात्सम्बन्धः सूच्यते। परं "मत्ता" शब्दस्योन्मत्तस्त्रीवाचकत्वं प्रसिद्धम् तेन प्रसिद्धेन पुरस्स्फूर्तिकेनार्थेन पूर्वोक्तो प्रसिद्धोऽर्थो निहन्यत इति 'निहतार्थता' नाम दोष इति मम्मटाचार्यो निश्चिनोति।

इदमपि न विचारसहम्। तथाहि प्रसिद्धेनार्थेन पुरःस्फुरितेन तदितरोऽर्थो यत्र बलादिवाभिभूतो न झटिति बोधगम्यो भवेत्तत्रैवायं दोषः। झटित्यर्थानुपस्थापकत्वं तेन च सहृदयोद्वेगजनकत्वमस्य दूषकताबीजम्। परन्तु हिमालयवर्णनप्रसंगे जागरूके 'धातुमत्ता' मिति पदश्रवणसमकालं कस्य वा सचेतसश्चेतसि 'मत्ता' पदांशमात्रोपस्थाप्यमान उन्मत्तस्त्रीरूपार्थः पदमादधीत ? तस्मात् निर्दुष्टमिदं महाकवेः सूक्तम्।

एवं भग्नप्रक्रमदोषोदाहरणप्रसंगे कुमारसम्भवस्थं पद्यमेतदुद्धृतं मम्मटेन—

"ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥"

इत्यत्र सप्तर्षयः शिवपार्वत्योर्विवाहविषये यतमाना माध्यस्थं भजन्तो हिमालयेन सह सम्मन्त्र्य तदुक्तिं शिवाय निवेद्य स्वस्थानं जग्मुरिति प्रसंगः। अत्र 'अस्मै' इतीदमः प्रक्रमात् 'तद्विसृष्टा' इत्यत्रापि "अनेन विसृष्टा' इत्येव वक्तव्यम्। न च तदिमोरर्थभेदः इदमः प्रस्तुतप्रत्यक्षपरामर्शकत्वात् ; इति विवृण्वन्ति प्रदीपकारादयः। तस्मादत्र सर्वनामविषये भग्नप्रक्रमः।

अत्रेदमालोचनीयम् येन रूपेणोपक्रमः तेनैवोपसंहारः कर्तव्यः अन्यथा अर्थप्रतीतिर्बाधिता सती सहृदयोद्वेगं जनयेदित्येतदेव दोषस्यास्य स्वरूपम्। अत्र 'तद्विसृष्टा' इत्यत्र भगवतः शिवस्य—प्रसिद्धतमत्त्वात्तच्छब्दो नार्थप्रतीतिं स्थगयति। किञ्च भगवता शिवेन परिणयवार्तायां माध्यस्थहेतोः पूर्वं स्मृता एते मुनयः--

"स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान् सप्त सस्मार स्मरशासनः॥"

इति कुमारसम्भवे तत्प्रकरणे स्फुटम्। एवं तच्छब्दोऽत्र पूर्वानुभूतार्थे प्रक्रान्तार्थे वा प्रयुज्यमानो न स्वल्पमपि दोषमावहतीति कालिदासीयं पदमेव रमणीयमिति।

अस्मिन्नेव दोषविचारे पर्यायविषयकप्रक्रमभङ्गोदाहरणे पद्यमिदमालोचितं मम्मटाचार्येण—

" महीभृतःपुत्रवतोऽपि दृष्टि-
स्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते
द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥"

कुमारसम्भवे प्रथमसर्गे हिमालयस्य पार्वत्यां वात्सल्यवर्णनमिदम्। अत्र 'अपत्यसामान्यसत्तायामपि' अपत्यविशेषे वात्सल्यमधिकमासीदिति वक्तव्ये 'पुत्रवत' इत्यभिधानमनुचितम्, 'अपत्यवतः' इत्येव सामान्येन प्रतिपादनीयम्। यथा दृष्टान्ते पुष्पसामान्यसत्तायामपि पुष्पविशेषे (चूतरूपे) द्विरेफमालाया-

विशेषत आसक्तिरित्युक्तम् । एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः समानाकारताभङ्गात् प्रकृते पर्यायविषये भग्नप्रक्रमतादोषः प्रादुर्भवतीति मम्मटस्याशयः ।

अत्र समाधीयते--यद्यपि पुत्रापत्यशब्दयोः सम्भवति सामान्यविशेषभावः परन्त्वत्र महाकविना पुत्रशब्दः सन्ततिसामान्यार्थ एव प्रयुक्तः । तथाहि "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्या"मिति नियमात् पुत्राश्च दुहितरश्च पुत्राः, तेऽस्य सन्तीति पुत्रवान् भूमार्थे 'मतुप्' प्रत्ययः । एवमेव व्याख्यातं च मल्लिनाथेन । एवं च नात्र प्रोक्तदोषावसरः ।

वृत्तिग्रन्थे स्वयं मम्मटाचार्येणापि किञ्चिदत्र अस्वरसमिव प्रदर्शयता लिखितं यत् 'अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूद् इति केचित्समर्थयन्ते' इति । समुचितञ्चैतदाभाति । सत्स्वपि पुत्रेषु कन्यायामन्यस्मै दास्यमानायां भवत्येव पितुः स्नेहः किञ्चिदधिक इत्यनुभवगोचरमिदं व्यवहारेऽपि । तत्राप्यशेष गुणशालिन्यां लोकोत्तरसौन्दर्यसम्भृतायामादिशक्तेरवतारभूतायामुमायां हिमवतः स्नेहधारा विशेषतः प्रावर्तत इत्यत्र न नाम किमप्यसम्भावनीयम् ।

पूर्वोक्तं मम्मटाचार्यस्य वृत्तिग्रन्थं व्याकुलयन्तष्टीकाकाराः परस्पर-विरुद्धं व्याचचक्षिरे । तत्र चण्डीदासादयस्तु दोषराहित्यमेव स्वीकुर्वन्ति । एवमग्रे---

"गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छाया बद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥"

इति शाकुन्तलनाटकस्थे पद्ये "गाहन्ता"मिति कर्तृकारकवाचकतिङ्प्रक्रमे तृतीयपादे 'क्रियता'मिति कर्मकारक वाचकस्योपादानात् कारकविषये भग्नप्रक्रमत्वमिति मम्मटाचार्यः ।

वस्तुतस्तु--अर्थप्रतीतिव्यवधायकस्य, कस्याप्यनौचित्यस्य वाऽत्राननुभवाद्-दोषस्थितिरपि नास्त्येव । यत्तु मम्मटाचार्यैरपि कल्पिते पाठे "विश्रब्धा

रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले'' इत्यत्र 'सूकरपदस्य ग्राम्यत्त्वाबन्धशैथिल्याच्च 'विश्रब्धः कुरुतां वराहनिवहो मुस्ताक्षतिं पल्वले' इतियुक्तं पठितुम्। एवञ्च–आत्मने पदप्रक्रमभंगोऽपि न इत्यादिकमुद्योतकारो लिखितवान्। तत्सर्वमाहो पुरुषिकामात्रम् प्रकृतार्थप्रतीतिप्रतिबन्धकतायाः पद्येऽस्मिन् लेशतोऽप्यननुभवात्।

एवमक्रमदोषस्योदाहरणतया निर्दिष्टे कुमारसम्भवीयेऽस्मिन्पद्ये--

"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावत-
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥"

यत्पदानन्तरं यत्पदोपादानमुचितं ततोऽन्यत्र तदुपादानं यत्र भवेत्तत्र 'अक्रमत्वं' नाम वाक्यदोषः। अत्रोदाहरणे कपालिसमागमप्रार्थनया शोच्यत्वप्रतीतौ तात्पर्येण यथा कलाशब्दानन्तरं 'च' कार उपात्तस्तथैव 'त्वञ्चेति' वक्तव्यमासीत् परं तत्र 'च' कारस्य 'लोकस्ये'तिपदानन्तरमुपादानात् क्रमस्याभावात् 'अक्रमत्वम्' तेन शोच्यतायां युष्मत्पदसम्बोध्यायास्तथा समुच्चयो न प्रतीयते इति मम्मटाभिप्रायः।

अत्रेदं विमृष्टव्यम्--पद्येऽस्मिन् शोच्यत्वप्रतीतौ चन्द्रकला-पार्वत्योरुभयोरपि समकक्षतया परिगणनं बटुवेषधरेण भगवता हरेण पूर्वमेव कृतम् 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयता'मिति वदता। तदनु कलावतः कान्तिमती सा कला च अस्य लोकस्य कान्तिमती नेत्रकौमुदी त्वञ्चेत्यभिहितम्। एवं शिवसमागमप्रार्थनया शोच्यत्वप्रतीतौ कलातो न स्वल्पापि न्यूनता भगवत्यामुमायां प्रतीयते उपक्रमेणैव तस्य प्रतिपादनात्। न च वराकः 'च' कारस्तथाऽपराद्धतीति सहृदया एव प्रमाणम् तस्मान्निर्दुष्टमिदं पद्यम्।

एवं 'अमतपरार्थ' नामनि दोषे रघुवंशस्थं ताटकावधवर्णनमिदमुदाहृतम्--

रामम्मथशरेण ताडिता
दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता
जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥

इत्यत्र वाक्यार्थात्प्रकरणवशात् प्रतीयमाने बीभत्सरसे श्लेषबलात् 'अभिसारिका' वृत्तान्तस्य प्रतीयमानतया शृङ्गाररसोऽपि व्यज्यते स च प्रकृतरसविरोधी ।

ज्ञेयौ शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः ॥

इत्युक्तत्वात् । ततश्च प्रकृतरसविरुद्धरसोपस्थापकतया वाक्यस्य सदोषत्वमिति मम्मटाचार्यस्य दृष्टिः ।

अत्रेदमवधेयम् – प्रकरणस्य नियामकत्वात् प्रकृतोऽर्थस्ताटकावधमात्रपरो बीभत्सरसास्वादपर्यवसायी च । श्लेषेण पुनर्द्वितीयार्थबुद्धौ समुल्लसितायामभिसारिकावृत्तान्तः प्रतीयते । तेन च शृङ्गाररसानुभवः । एवं 'अर्थभेदेन' शब्दभेदः यावन्तोऽर्थास्तावन्तः शब्दाः' इत्याद्यालङ्कारिकनयेन शृङ्गाररसाभिव्यञ्जकाः शब्दा अपि पृथग्भूता एव । केवलं श्लेषबलादभिन्ना इव भासन्ते । यदुक्तं मम्मटेनैव श्लेषप्रकरणे – "वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपं अपह्नुवते स श्लेष" इति । एवमनयो रसयोः सामानाधिकरण्याभावान्न विरोधः । प्रत्युत कवेरेकशब्दाश्रयेण परस्परविरुद्धरसचमत्कारप्रदर्शनसामर्थ्यसूचनादुत्कर्ष एव प्रतीयते ।

किञ्च वैयञ्जनिकबोधस्याऽऽवृत्या स्वीकृतत्वादेकस्मिन् प्रकरणे तदभिव्यङ्ग्ये रसे च पर्यवसिते प्रकरणभेदेन पुनरपि रसान्तरप्रतीतौ बाधकं नास्ति । नापि नैरन्तर्यविरोधः श्लेषस्य तत्र व्यवधायकत्वादिति कालिदासोक्तिः शोभनैव ।

रसदोषप्रकरणे मम्मटाचार्यैः—रसस्यानुभूतस्यापि पुनः पुनर्दीप्तावुदाहृतं कुमारसम्भवीयं रतिविलापप्रकरणम् । अनुभूतो हि रसोभूयोभूयश्चर्व्यमाणो नवनी-चमत्काराभावात्सामाजिकानुद्वेजयतीति मम्मटाशयः । तत्रेदं विचिन्तनीयम्-कुमारसम्भवे चतुर्थसर्गे सति कामदहे—

अथ मोहपरायणा सती
विवशाकामवधूर्विबोधिता ।
विधिनाप्रतिपादयिष्यता,
नववैधव्यमसह्यवेदनम् ।।

इत्यादिना तस्या विलापप्रकार उपवर्णितः । एवं करुणरसोद्रेके जाते स्वजनकर्तव्यनिर्वाहाय तां सान्त्वयितुं कामबन्धौ वसन्ते प्रत्यासन्ने तदीयावलोकनाद् भृशं वर्धमानशोकावेगा सा वक्षस्ताडनरोदनादिकं चकारेति कविना स्ववचोभिरेव तदौचित्यं पर्यवस्थापितम् । यथा—

तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसम्बाधमुरो जघान च ।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ।।

एवमौचित्येन निर्व्यूढो रसो भूयो भूयश्चर्व्यमाणोऽपि नो द्वेगाय प्रभवेदिति सहृदयहृदयसाक्षिकमेवैतत् ।

अस्मिन्नेव प्रकरणे 'प्रकृतिविपर्यय दोषोदाहरणतया कुमारसम्भवे शिवयोः सम्भोगश्रृंगारवर्णनमुपात्तं मम्मटाचार्येण । प्रकृतिस्स्वभावश्चरित्रं वा तत्प्रतिकूलतया वर्णने सोऽयं दोषः । यस्यां प्रकृतौ यद्वर्णनमुचितं तत्प्रतिकूलं वर्णनमित्यर्थः यदाधुनिकैः 'चरित्रचित्रण'मित्युच्यते । तत्र दिव्यप्रकृतिभाजो-रुमामहेश्वरयोः प्रकटश्रृंगारवर्णनं प्राकृतजनसाधारणरीत्या निबद्ध्यमानं तयोर्दिव्यस्वभावतां सामाजिकानां भक्तिरूपिणीं प्रवृत्तिञ्च प्रतिबध्नातीति मम्मटाचार्यस्याशयः ।

यद्यपि आपाततो मम्मटाचार्यस्य शिक्षा समीचीनेव प्रतिभाति। किन्तु महाकवेः कालिदासस्य प्रतिभाप्रभाव्याप्ती दृग्गोचरीकृतायां तत्र न स्वल्पमपि दूषणमवशिष्यते। भगवता शिवेन दग्धे मन्मथे जगतः सकलाऽपि प्रवृत्तिः प्रतिरुद्धा भवेत् अतो भगवान् नित्यमुक्तोऽपि जगदनुग्रहाय मन्मथमप्यनुगृहीतवान् न तु विषयलोलुपतयैवेन्द्रियसुखानि सिषेवे इत्यर्थः सूचितो महाकविनाऽस्मिन् प्रकरणे—

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।
शैलराजसदने सहोमया मासमात्रमवसद् वृषध्वजः॥ इति वदता।

किञ्च भगवतो वास्तविकं यद्रूपं तदपि न विपर्यस्तं कविना—

"एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः।"

इत्यादौ 'जगद्गुरु' प्रभृतीनि पदानि प्रकृति स्वरूपं नान्यथा कुर्वन्तीति न प्रकृतिविपर्ययदोषावकाशोऽपि।

महाकवे रसोपनिबन्धने यदि तादृशं पाटवं सहृदयैरनुभूयेत यत्र न तदास्वादस्य स्वल्पोऽपि प्रतिरोधः तत्र सन्नपि दोषो न प्रतिबन्धकः कविशक्तितिरोहितत्वात्। तदुक्तम्—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झगित्यवभासते॥ इति।

तस्मान्नितान्तनिरवद्या महाकवेः सूक्तितरंगिणीपीयूषपूरैस्त्रिलोकीमापूरयन्ती भारतवर्षस्य सौभाग्यसम्पदमहर्निशमभिवर्धयन्ती विराजते।

श्रीमन्मम्मटाचार्यैरपि शिष्यशिक्षार्थं तत्र तत्र सूक्ष्मेक्षिकया दोषानुत्प्रेक्ष्य तद्विवेचनप्रकारवर्णनया सर्वे वयमनुगृहीता एवेति तेषां पाण्डित्यप्रकर्षे कस्य न वा साधीयसी श्रद्धा स्यात्।

दर्पणकारस्य कालिदाससूक्तिसमीक्षणम्

अमन्दानन्दसन्दोहमकरन्दकरम्बिता ।
कालिदासकवीन्द्रस्य जीयाद् वचनमञ्जरी ॥

प्रथमं दर्पणकारेण अविमृष्टविधेयांशाभिधस्य दोषस्य उदाहरणतया परिगृहीतं रघुवंशस्थलम् "आसमुद्रक्षितीशानाम्' इति । अत्राऽयमाशयो दर्पणकारस्य रघूणामधिकारस्य समुद्रपर्यन्ततायाः प्रत्यायनं कवेरभीष्टम् तच्च विधेयता प्रतिपाद्यम् । परं समासेन सा विधेयता न सम्यक् प्रतीयते किन्तु समुद्रपर्यन्तत्वविशिष्टक्षितीशत्वमेव प्रतीयत इति प्रोक्तदोषप्रसक्तिर्दुर्वारा विवक्षितविधेयांशतिरस्कारादि इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—न खल्वत्र समुद्रपर्यन्तत्वमात्रं विधेयम् किन्तु समुद्रपर्यन्तक्षितिनायकत्वमेव । किमत्र प्रमाणमिति चेत्, कवेर्विरचनैव प्रमाणम् ।

यदि कवेः समुद्रपर्यन्तत्वमात्रे प्राधान्यविवक्षा अभविष्यत्तर्हि सबिन्दुकत्वं वाऽरचयिष्यत् कविवरः तावता वृत्तभङ्गादिदोषाभावात् । कवेरुक्तिरपि तदनुगुणा 'तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः इति । मल्लिनाथोऽपि विवृणुते—'आजन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभिः रिति । तस्मात् तादृशक्षितीशत्वादेरेव विधेयत्वप्रतिपत्तिः सुस्फुटा श्लोकचतुष्टयेन । प्रबन्धप्रवृत्तानां षष्ठचन्तविशेषणानां पूर्व-पूर्वसाकाङ्क्षाणां विधेयतया प्रतीतिरुपजायते । विशेषणविशेष्ययोः समानलिंगवचनतया स्वारसिक एव अन्वयबोधः प्रवर्तते । अयं विधेयाविमर्शदोषः समासेऽसमासे च परिदृष्टः । विधेयतया विवक्षाया एव प्राधान्यात् । क्वचित्तु समासेऽपि न विधेयताबुद्धि प्रतिबध्यते । यथा—'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादौ । अतो यदि 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इत्यत्र समुद्रपर्यन्तत्वं विधेयमित्याग्रहः तदा तदपि प्रतीयतान्नाम इत्थं महाकवेर्वचसि न दूषणावसरः ।

इतोऽग्रे वाक्यदोषेषु 'अधिकपदस्य' उदाहरणतयापद्यमिदमुपन्यस्यते दर्पण-कारेण—

"अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमनामहर्षिः।
स्पृशन् करेणाऽऽनतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः॥

अत्र ईप्सितद्रविणलाभानन्तरं जिगमिषुः कौत्सो 'वाचमुवाच' इत्यत्र 'उवाच' इति 'वच' धातुनैव निर्व्यूढे कार्ये 'वाच' मिति पदमधिकम्। विवक्षिताऽन्वयाऽनुपयुक्त पदशालित्वमेव 'अधिक' पदत्वमित्युच्यते।

अत्राऽयमाक्षेपोऽपि निरस्यते—तथाहि पूर्वमेतत् पदार्थः परिशीलनीयः तदनुसारं दूषणगवेषणा करणीयेति प्रशस्तः पन्थाः। तादृशेन लोकोत्तरेण रघोः प्रभावेण पूरिताभिलाषः शतशः क्रमशः क्रमेलकेषु वडवासु च गोणीपरितं कनकराशिं गुरुदक्षिणार्थमादाय सन्तुष्टचेता जिगमिषुर्महर्षिः कौत्सः कीदृगवस्थ इत्यालोच्यते चेत् स्फुटमिदं प्रतीयेत यत् अत्यन्तं प्रसीदच्चेताः स्वकार्यपूर्त्या तत्प्रतिदानाय पुण्यमपि अंशतः व्ययीकर्तुं तत्पर आसीत्। किञ्च 'कृते प्रतिकृतं कुर्यादेष धर्मः सनातनः' इत्युक्तदिशा विशिष्टां वाचमुदीरयति स्म न तु साधारणीम् अतएव महाकविना प्रकरणानुकूलानि पदानि प्रयुज्यन्ते। तथाहि 'प्रजेश्वर-' मिति। ईष्टे इति ईश्वरः प्रजानामुपलक्षणतया ऋष्यादीनामपि कार्येषु सामर्थ्यमावहति इति तादृशम्। 'प्रीतमना' महर्षिरिति पदयुगली साभिप्रायैव। यतः अत्यन्तं सन्तुष्टचेताः स्वतपसा महर्षिदशां निग्रहानुग्रहसामर्थ्यलक्षणामधिष्ठितः कौत्स इत्यर्थः। एवं 'वाच' मित्यस्य विशिष्टामाशीर्लक्षणामित्यर्थकरणान्न दोषः प्रत्युत ध्वनिमहिम्ना चारुत्वापादनं क्रियते कविवरेण। 'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति' इत्यादौ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वन्युदाहरणे या रीतिः सैव अत्रापि अनुसर्तव्या।

'वाचमुवाच' इत्यत्र 'वाक्' शब्दमुख्यार्थस्य अक्षरोच्चारणलक्षणस्य बाधात् सामान्यविशेषभावसम्बन्धेन 'विशिष्टां वाच' मिति लक्ष्यते। तत् प्रयोजनीभूतं व्यङ्ग्यन्तु पुत्रादिकल्याणगुणगणफलप्रदानोन्मुखत्वमिति वाचि प्रतीयते। इत्येवं रीत्या ध्वनिभेदमनुप्रविशतोऽस्य स्थलस्य कुतो दूषणावसरः? प्रकारान्तरेणापि समर्थयितुं शक्यमिदम्—यथा 'देवं यजति' 'गन्धं जिघ्रति,

इत्यादि प्रयोगेषु 'यज' प्रभृतीनां धात्वर्थानां देवपूजाद्यर्थकत्वेऽपि पूजाग्रहणमात्रार्थत्वं कल्प्यते तद्वदेव 'वाचमुवाच' इत्यत्रापि 'उवाच' इत्यस्योच्चारणमात्रार्थत्वं कल्पनीयम् ।

एवं 'अस्थानस्थापदं' नामदोषमुदाहरन्नाह दर्पणकारो—रघुवंशस्य षोडषसर्गस्थमिदं पद्यम्—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनी बभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥'

अत्र कुशो विग्रहवत्या अयोध्यादेवतया प्रार्थितः पुनरपि तां नगरीं स्वीयां राजधानीं निर्मित्सुः कुशावत्याः प्रचलितो मध्येमार्गं गङ्गामुत्ततार इति प्रकरणम् । अत्र 'तदीये' इति पद गङ्गासम्बन्धितया योजयतो दर्पणकारस्य महान् प्रमादः । तदनुसारमुच्यते तेन-'अत्र तदीयपदात् पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्त' इति । पूर्वमभिहितस्यैव पश्चात् सर्वनाम्ना निर्देशो युज्यते अत्र तु पूर्वमेव 'तदीये' इति सर्वनाम पश्चाद् 'गङ्गा' मिति प्रयुक्तमित्यन्वयानुसन्धानवेलायां विसंष्ठुलत्वं पदानामस्थाने विन्यासात् इति तस्याऽऽशयः । परमिदं सर्वमस्थानविजृम्भितम् यतः एतत् पद्यात् पूर्ववर्तिपद्यमिदं द्रष्टव्यम्—

'स धातु भेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद् विन्ध्यमुपायनानि पश्यन् पुलिन्दैरुपपादितानि ॥'

अत्र तु स्पष्टमेव 'विन्ध्यस्य' सम्बन्धः प्रतीयते । अग्रिमे पद्ये विन्ध्यस्यैव 'तदीये' इति सर्वनाम्ना निर्देशः । तस्मात् 'तदीये वैन्ध्ये' इति व्याचक्षाणो मल्लिनाथः साधुरेव । अनया पद्धत्या नाऽत्र दोषलेशावकाशोऽप्यवशिष्यते ।

एतदनन्तरं 'एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः' इत्युक्तदिशा अलंकारनिबन्धने यत्किञ्चिदनौचित्यं प्रतिभाति तत् सर्वं पूर्वोक्तदोषस्पर्शमूलकमिति विचारयतो दर्पणकारप्रकाशकारयोर्विवेच्यतामुपगतं कुमारसम्भवस्थनिर्दिष्टपद्यमुद्वीक्ष्यतां सहृदयैः—

'दिवाकरात् रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव ।'

अत्र दिवाकरभयात् पलायमानं शरणागतमन्धकारं गुहासु हिमालयो रक्षतीति कविनोत्प्रेक्षितः कश्चिदर्थः । स तावन्मात्रया भणित्यैव समापनीयः

न तु 'क्षुद्रेऽपि नूनम्' इत्याद्युक्त्या समर्थयितुं योग्यः। सर्वथा गगनकुसुमायमानस्य तादृशार्थस्य समर्थनं अनुचितार्थतां प्रकाशयति। अत्रेदं विचार्यताम्—न केवलमचेतनवृत्तान्तोपनिबन्धनं दोषाय महाकाव्येषु कविभिः शतशस्तथाविधाः कल्पना उपनिबद्ध्यमानाः सहृदयहृदयानन्दावहाः प्रतीयन्ते। अत्राऽऽलोचकानां टीकाकाराणां निष्कर्षः एतावानेव यत्—उत्प्रेक्षा न तु दोषाय तादृशोत्प्रेक्षितार्थसमर्थनमेव दोषं जनयतीति। तत्रेदमुच्यते—अचेतनवस्तुवृत्तान्तः प्रायः केनापि चेतनवस्तुवृत्तान्तेनाऽनुप्राणित एव कवीनां रचनासु पदमाधत्ते। ध्वनिकारेण द्वितीयोद्योते ध्वन्यालोके विशदमभ्यधायि—'यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलंकारविषयः इत्युच्यते तर्हि उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वा अभिहिता स्यात्' इति। 'तन्महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्' इति च। उदाहृतानि चाग्रे भूयांसि पद्यानि। एवमत्र 'दिवाकराद् रक्षती'त्युदाहरणे उत्प्रेक्षितोऽर्थो न निरुपायप्रख्यः किन्तु चेतनवृत्तगर्भतया साभिप्राय एव। हिमालयोत्कर्षवर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्। द्विविधमपि हिमवतो रूपं वर्णितं महाकविना चेतनमचेतनञ्च। हिमालयस्योत्कर्षे साधिते ततः पार्वत्याः रूपगुणादिवर्णनं प्रकर्षमाप्स्यतीति कवेरभिप्रायः। किञ्च—"ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव' इत्यादिना समर्थितः शरणागतान्धकाररक्षणव्यवसायः सौन्दर्यमनुबध्नाति। 'उच्चैः शिरसा' मिति पदं नितान्तं चमत्कारि। "उच्चैः शिखरशालित्वम् गौरवेणोन्नत शिरस्कत्वञ्चेति तदभिप्रायव्यञ्जनात्। एतेन—

'प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्' इत्युक्तदिशा प्राकरणिको हिमालयोत्कर्षः साधु सिद्धयति। प्रकृष्यते च पार्वत्या वक्ष्यमाणं चरितमिति कथमेतस्य दोषावहत्वमिति न जानीमः।

इतः परम् उपमाविचारप्रसङ्गे कालपुरुष-विध्यादिभेदस्य भग्नप्रक्रमदोषाक्रान्तत्वमुक्तं दर्पणकृता। प्रसङ्गादुद्धृतं कालिदासीयं पद्यमिदम्—

"काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव॥"

अत्रेयं तदीया विचारदिक्—तथाभूतयोश्चित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत् इति भूतकालिकक्रियासम्बन्धेन निर्देष्टुमुचिता नक्षत्रचन्द्रसंयोगस्य सर्वदैव

प्रवर्तमानत्वात् । सुदक्षिणादिलीपयोस्तु सकृदेव सा शोभा तदाऽजायतेति समुचितं तत्रैव क्रियायोजनम् । तस्मादत्रोपमानेऽतीतकालस्य बाधात् वर्तमानोहेनाऽन्वयप्रतिसन्धानात् प्रक्रमभङ्गः इति । अत्रापि विदाङ्कुर्वन्तु सहृदयास्तथ्यमेतत्—न खल्वत्र 'क्रिया' साधारणो धर्मः येन उपमानोपमेयभावनिर्वाहस्तया विना न चरितार्थो भवेत् किन्तु काऽपि लोकमनोहारिणी 'अभिख्या' साधारणो धर्मस्तदन्वये तु न काऽप्यनुपपत्तिः । न च क्रिया किञ्चिद् धर्मरूपा केवलं सत्तामात्र प्रत्यायिकेति तस्या औपम्यनिर्वाहे न भूयानुपयोगः ।

इयमेव रीतिः—'अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमात् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥'

इति प्रकाशोदाहृतपद्येऽप्यनुसर्तव्या । तत्र 'प्रसादस्य' साधारणधर्मत्वात् । अन्यदपि विचार्यताम्—उपमानभूतचन्द्रकमलादिगतानां गुणानां क्रियाणां वा सर्वदा वर्तमानप्रत्ययगोचरत्वं सुवचम् । उपमेयभूत-स्त्री-पुरुषादिपात्राणां तत्तत्कथानुरूपभूतभविष्यत् कालगोचरत्वं कविकल्पनायत्तमिति स्थितौ क्रियापदानां कालभेदो न दोषावहः औपम्यनिर्वाहकस्य साधारणधर्मकृतचमत्कारस्य केनापि हेतुना सम्यगनभिव्यक्तौ दोषः सम्मुद्भावनीयः । तस्मात् पूर्वोक्तानि कालिदासरचनास्थलानि न लेशतोऽपि दूषणीयतामर्हन्ति प्रत्युत मार्मिक-सहृदय-साधुवाद-कुसुमोत्करैर्भूषणीयतामेव प्रतिपद्यन्त इति निवेदयामः ।

कालिदासपद्येष्वलङ्कारदोषविवेकः

कविकुलगुरोः कालिदासस्य सरस्वतीनिःश्वसितप्रायेषु पद्येष्वलङ्कारसन्निवेशने क्वापि काऽपि त्रुटिरस्ति न वेति परीक्षणस्पृशा दृशा किञ्चिदिदं विशेषदृशां विदुषां मनोविनोदाय समुपन्यस्यते।

ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्येण आनन्दवर्धनेन ध्वनिकाव्ये रसावहितचेतसः सुकवेः रचनायां रसप्रवाहसहकृत एवाऽलङ्कारः स्वयं स्वरूपमुपलभते इत्युपपादितम्।

"रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥"

इत्युक्त्या 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व' मलङ्काराणां सौन्दर्यस्य साधकं भवतीति निरणायि। एवमलङ्काराणां प्रबन्धे यथोचितसन्निवेशाय समीक्षासरणिरप्युपवर्णिता।

"विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नाऽतिनिर्वहणैषिता॥"

इत्यादि कारिकां विरचयता तदुदाहरणतया शाकुन्तलविक्रमोर्वशीयादिपद्यान्यपि समुपात्तानि। सर्वमेतद् रसप्राधान्यसिद्धान्तानुरोधेन समीचीनमेवाऽस्तीति तत्र न किमपि क्षोदक्षमम्।

यत्तु श्रुतिकटुत्वादिदोषप्रतिपादनानन्तरमेते दोषा एव क्वचिदलङ्कारवैगुण्यं जनयितुमीशते इत्यलङ्कारदोषा न पृथग्भूता इत्यादिर्मम्मटादीनां विमर्शः तदनुसारं कालिदासीयेषु पद्येष्वप्युपमाद्यलङ्कारसन्निवेशनविघटकाः केऽपि दोषा दरीदृश्यन्ते। तत्र कांश्चन स्थालीपुलाकन्यायेन परीक्षितुं विचार्यन्ते किञ्चित् कुमारसम्भवे प्रथमसर्गे-

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥

पद्येऽस्मिन् मालोपमामुपनिबध्नाति कविः। तत्रोपमेयांशे 'तया स पूतश्च विभूषितश्च' इत्यस्मिन् विशेषणयोगो नाऽस्ति। उपमानेषु त्रिषु द्वयोः सविशेषणत्वमेकस्य तु निर्विशेषणत्वं दृश्यते। तस्मादत्र विशेषणाऽऽधिक्यादधिकपदत्वं दूषणं दुर्वारम्। एतन्निराचिकीर्षया मल्लिनाथः प्राह 'अत्र शिखागिरोरविशिष्टयोरुपमानाऽनर्हत्वान्नात्र विशेषणाधिक्यदोषः" इति। एतत्तु मुखमुद्रणमात्रमाभाति।

'शिखयेव दीप:' एतावन्मात्रोक्तौ न हीयते सादृश्यचमत्कृति:' व्यङ्ग्यानामुज्ज्वलत्वस्वर्णसवर्णत्वादिधर्माणामीषदनुभवोऽपि नाऽवरुध्यते। वाच्यवृत्त्या तु पूतत्वविभूषितत्वयो: संबन्ध: स्फुट एव। तस्मात् 'प्रभा महत्या' इति विशेषणं व्यर्थमेव। 'आत्मा वै पुत्रनामाऽसि' इत्यादि श्रुत्या पुत्रपदस्य दुहित्रादिपरत्वकल्पनया च हिमवत्पार्वत्योरिव प्रदीपशिखयो: स्वरूपत: साम्यं समीचीनमस्तीति तयोरुपमेयत्वमुपमानत्वञ्च स्थाने। किन्तु येन धर्मेणाऽलङ्कारसौन्दर्यं निष्पादनीयं स तु नोभयत: संगच्छते। आदिशक्त्यवतारत्वेन पार्वत्या पर्वतराजस्य पूतत्वं साधु, परं शिखया दीपस्य पूतत्वमश्रुतचरमचमत्कारकारि चेति कथमुपमा संपद्यताम्?

इत्थमेव द्वितीयो विभूषितत्वरूपो धर्म: कथमत्र सन्निवेशनीय:? भूष्यभूषकयो: पार्थक्य एव विभूषितत्वव्यवहार: पदं लभते नाऽन्यथा। दीपस्य शिखाभिन्नत्वेन कथमत्र तस्य प्रतीति:? शिखया दीप इति व्यवहारस्तु 'राहो: शिर' इतिवदुपपादनीयतामपेक्षत एव।

हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभि: इत्यालङ्कारिकनियमादुपमानोपमेयोभयहृद्यसम्बन्धस्यैव उपमालङ्कारता नेतरस्य। सत्स्वपि नानाविधेषु धर्मेषु पुर:स्फूर्तिकचमत्काराधायकधर्मेणैवाऽलङ्कारस्वरूपमुद्भाव्यते। एवमत्र पूतत्व-विभूषितत्वयोरसङ्गति: स्फुटा।

एवमग्रेऽपि 'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी' इत्युपमाने 'मनस ईषा मनीषा साऽस्याऽस्तीति मनीषी विद्वानिव शकन्ध्वादित्वात् साधु:' इति मल्लिनाथप्रदर्शितरीत्या मनीषिपदात् विद्वद्रूपेऽर्थे सम्पन्ने तादृशस्य पुरुषस्य वाच: संस्कारशालित्वं स्वभावसिद्धं भवेदेव न तत: 'संस्कारवत्या' इति विशेषणस्य काऽप्यपेक्षा। तस्मादत्रापि अधिकपदत्वं नाम दोष: कुपद एवेति शक्यते वक्तुम्।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय: सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि॥

इत्यस्मान्मन्त्रादपि मनीषिपदप्रयोगे तदीयगिरां संस्कारशालित्वं निश्चेतुं सुशकम्।

इत्थमेव स्थलान्तरेऽपि विदुषां कटाक्षनिक्षेप: काम्यते।

सा हि प्रणयवत्यासीत् सपत्न्योरुभयोरपि।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिष्यन्दरेखयो:॥

इति रघुवंशदशमसर्गस्थे श्लोके पुत्रजन्मनिमित्तं यागे सम्पन्ने भक्षणीयश्चरुः कौसल्याकैकेयीभ्यां सुमित्रायै प्रेम्णा प्रादायीति सन्दर्भः। तत्रोपमालङ्कारसौन्दर्य-मुद्भावयति कविर्भ्रमरी वृत्तान्तेन।' अत्रोपमालङ्कारसामग्री न पूर्णा किन्तूपमेयांशे काऽपि त्रुटिरवशिष्यते। तद्यथा उपमेयभागे सुमित्रा द्वे तत्सपत्न्यौ उपमानभागे तु भ्रमरी वारणः तस्य मदनिष्यन्दरेखे चेति वारणपदार्थसन्निवेशादाधिक्यमवभासते। एवमत्रापि न्यूनपदत्वनामा दोषः पूर्ववदेव उत्कन्वरः प्रतीयेत। प्रणयवत्त्वं तु उभयानुगतः समानो धर्मः।

अत्रोत्तरार्धे प्रतिपाद्यस्य वारणस्य बिम्बस्थानीयो राजा दशरथो नास्ति इत्ये-तद्दोषस्य मूलम्। अत्र मल्लिनाथः—"समान एकः पतिर्ययोस्तयोः सपत्न्योः। 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप्। सपत्न्योरित्यत्र समासान्तर्गतस्य पत्युरुपमानं वारण-स्येति।" इत्येवं विवृण्वन् पत्युरभावेऽपि सपत्नीशब्दान्तर्गतपतिसंबन्धमात्रेण तत्स-द्भावं व्यवस्थापयितुं चेष्टते। परं नेदं हृदयग्राहि। पत्युः साक्षात् प्रतिपादकस्य शब्दस्याऽसत्वे न्यूनपदत्वं गले पतितमेव। 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इति नियमाद् दशरथवाचकस्य यत्किञ्चित्पदस्याऽभावादलङ्कारस्याऽप्यसङ्गतिरनुभवसिद्धा कथं निषिद्ध्यताम्?

यद्यपि 'सपत्नी' शब्दे पत्युः सम्बन्धः प्रतीयते किन्तु तावता पत्युः प्रतीतिर्न भवति। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्न इति नियमादपि सम्बन्धमात्रेण तत्प्रतीति-रशक्यैव। न चास्या उपमाया उपमेयलुप्तायामन्तर्भावो भवितुमर्हति 'सपत्नी' शब्दादंशतः पतिपदार्थप्रतीतिसत्वात्। सप्तविधासु लुप्तोपमासु द्विलुप्तायामुपमेय-वाचकयोर्लोपेन 'क्यच्' प्रत्ययमात्रे तदुपलब्धिरिति मम्मटादीनामाशयो दृश्यते।

'स सहस्रायुधीयती' त्यादि तदुदाहरणे कर्मपदाद् आचारार्थे क्यच्प्रत्ययविधा-नादुपमेयवाचकयोर्लोपः। सहस्रायुधमिवाऽऽत्मानमाचरतीति विग्रहे कर्मभूतस्याऽऽ-त्मनो लोपः। न पुनरत्र पद्ये तादृशी स्थितिर्यद्वशादुपमेयलोपः कल्पनीयो भवेत्। यथा तथा वा भवतु। उपमानोपमेययोः समानविभक्तिकत्वं शब्दोपात्तत्वमावश्यकं भवतीति पद्येऽस्मिन् उपमालङ्कारो न भवितुं समर्थ इति स्फुटतरमिदम्।

एवं प्रसिद्धैर्लेखकैर्ग्रन्थकारैश्चापरिशीलितेषु कालिदाससूक्तिकदम्बकेषु विमर्शः प्रवर्तनीय इति मर्षयन्तु ममातिक्रमं दोषज्ञा इति शिवम्।

●

व्यक्तिविवेककारस्य कालिदासकाव्यसमीक्षा

श्रीमन्महिमभट्टेन कालिदासोक्तिदूषणम् ।
यन्निर्दिष्टं तदुद्धारः संक्षेपेण प्रदर्श्यते ॥

ध्वनिप्रस्थानचिखण्डिषया कृतारम्भः सुगृहीतनामधेयो व्यक्तिविवेकप्रबन्धकृत् श्रीमहिमभट्टः स्वग्रन्थे द्वितीये विमर्शे दोषजातिमनौचित्यप्रसूतामर्थशब्दगततया द्विधा विभज्य अर्थगतायास्तस्या रसादिविचारमुखेन प्राचीनैरेव निर्णीतप्रायतया तामुपेक्ष्य शब्दगतामेव विशेषतो विवेचयितुमुपाक्रमत ।

सा च पञ्चधा यथा—विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं, वाच्याऽवचनञ्चेति । सामान्यलक्षणमेतेषामित्थं प्रत्यतिष्ठिपत्—'एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम् । अन्तरङ्गबहिरङ्गभावश्चाऽनयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः इति ।

तदनुसारञ्च यथायथमुदाहरणदिसन्दर्भसमृद्धया सरण्या विविनक्ति स्म दोषानेतान् । तत्र प्रथमं तावत्—

पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थतां गतम् ।
न तत्समासमन्येन न चाऽप्यन्योन्यमर्हति ॥

इति तदुक्तरीत्या पुरोनिर्दिष्टे रघुवंशीये पद्ये—

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वञ्च संहितममोघसायकं व्याजहार हरसूनुसन्निभः ॥

सायके अमोघत्वं विधेयतया विवक्षितमपि समासवशान्न तथा प्रतिपादितमिति दोषः । विध्यनुवादभावविशेषण-विशेष्यभावयोः प्रायः समानफलैव प्रतिपत्तिरनुभूयते इत्याद्युक्तम् । तत्रेदं विचारणीयम् प्रथमं तावत् अपपाठ एवाऽयम् । वस्तुतः 'स्वञ्च संहितममोघमाशुग'मिति पाठ एव मल्लिनाथादिपरिगृहीतः प्रसिद्धश्च । पूर्वपाठमङ्गीकृत्याऽपि न तथा विधेयाऽविमर्शः प्रतीयते । यतः पद्येऽस्मिन् 'व्याजहारे'ति पार्यन्तिकी क्रिया । राघवः तथाविधं भार्गवं सहितं स्वम-

मोघसायकञ्चाऽवेक्ष्य इति अवान्तरवाक्यम् । चकार समुच्चायकः । निरस्तवीर्यस्य भार्गवस्य वर्णनादेव प्रकृतनायकस्य रामस्योत्कर्षे सिद्धे तदुपकरणमात्रस्य बाणस्य विशेषांशे विधेयत्वादिविचारो न प्राधान्यमनुभवति । अवेक्षणक्रियान्वयोऽपि सायकेनैव न त्वमोघत्वेनेति न शाब्दान्वयेऽपि गौणत्वबुद्धिरिति ।

एवं रघुवंशप्रथमसर्गस्थे पद्ये—यदि राजनि प्रदक्षिणक्रियातीतत्वं विधीयेत तदा न दोषः । 'प्रदक्षिणक्रियातीतस्तस्याः कोपमजीजनः' । अत्र प्रदक्षिणक्रियाया अत्ययक्रियाकर्मभूतायाः प्राधान्यं वाच्यमपि न परामृष्टमिति । अत्राऽपि पूर्ववत् प्रतिपत्तिः । अयमपि अपपाठः 'यतः प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाऽऽचरः' इत्येष एव सम्मतः पाठः प्रसिद्धः । तत्र च प्रधानीभूतायां धेनौ प्रदक्षिणक्रियार्हत्वस्य विधेयस्य साक्षादन्वयेन न दोषाशङ्काकलङ्कः । एवमग्र तृतीयसर्गेऽपि 'तमभ्यनन्दत् प्रथमप्रबोधितः' इत्यपपाठं परिकल्प्य दूषणान्वेषणं 'प्रथम'मिति पृथगभिधानमित्यादि वालुकाकूपखननमात्रमित्युपेक्षामहे । 'प्रथमं प्रबोधितः' इत्येव मूलपाठस्तत्र प्रथते ।

कुमारसम्भवे तारकासुरप्रसङ्गे—

'जयाऽऽशा यत्र चाऽस्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा ।
हरिचक्रेण तेनाऽस्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम् ॥"

अत्र 'हरेश्चक्रेण' इति हरेः सम्बन्धो विधेयतया पृथक् प्रतिपादयितुमुचितः तं विना जयाशास्पदत्वस्य न स्फुटा प्रतिपत्तिः । हरिसम्बन्धित्वेनैव तद्वैशिष्ट्यात् । विभक्तिसम्बन्धाऽसम्बन्धाभ्यामेव विशिष्टार्थप्रतिपत्तितदभावौ गोचरीक्रियेते । 'वृषल्यां कामुको' 'दास्याः पुत्रः' इत्यादौ कामुकादेः आक्रोशादपकर्षः प्रतीयते समासेऽपि विभक्तेः अलुकमाह आचार्य इत्येवं महिमभट्टः समीक्षते ।

तत्रेदं विमर्शनीयम्—सत्यमेतत् यदि न प्रकारान्तरेण प्राधान्यबोधः स्यात् । सति विवक्षितार्थावगमे शब्दैकदेशविवेचनस्य न भूयानुपयोगः । अत्रहि पूर्वापरसन्दर्भविचारणया हरिचक्रगतं वैशिष्ट्यं हरिसम्बन्धवैशिष्ट्यञ्च प्रतीयत एव । यतः पूर्वतने पद्ये—

"तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः ।
वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके ॥"

इत्युक्त्या परिक्षीणसर्वोपायतया 'देवा ब्रह्माणं सूचयन्ति' 'जयाशा यत्र चाऽस्माकं' इत्यादि। 'यत्र च' इत्यस्य 'यत्रैवे' त्यर्थः, अव्ययानामनेकार्थत्वात्, प्रकृताऽनुगुणत्वाच्च।

प्रक्रमभेदेषूदाहरणतया रघुवंशस्याष्टमसर्गात् वसिष्ठशिष्यद्वारा अजं प्रति सान्त्वनोपदेशे निबद्धमुदाहृतं पद्यमिदम्—

"रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नाऽनुमृतेरवाप्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्॥

अत्र व्याख्यातॄणां भूयान् पाठभेदः। 'भवता नाऽनुमृताऽपि लभ्यते' इत्ययमेव हेमाद्रिमल्लिनाथादिसम्मतः पाठः। अत्र 'रुदता' 'नाऽनुमृते रित्युभयोः क्रमो भग्नः, तृतीयान्तत्वेन पञ्चम्यन्तत्वेन च। उपसर्गप्रयोगोऽपि न समानः। अतस्तत्र पूर्वं 'कुत एव तु साऽनुरोदनात्' इति परिवर्तनीयमित्याह व्यक्तिविवेककारः।

तत्रेदं प्रतिविधानम्-भग्नप्रक्रमदोष एवाऽयं नामान्तरेण प्रतिपाद्यते महिमभट्टेन। 'भग्नप्रक्रममारब्धशब्दनिर्वाहहीनता' इति प्रसिद्धतल्लक्षणानुसारेण प्रारब्धस्य निर्वाहे भग्ने दूषणोद्भावनं सङ्गच्छते। अत्र विचक्षणशिरोमणिना पूर्वार्धपरिवर्तनं विदधता सा सरणि स्वयमेव भग्ना। किञ्च—'भवता नाऽनुमृताऽपि लभ्यते' इत्ययमेव पाठः प्रसिद्धः सम्मतो मल्लिनाथादीनाम्। अस्मिन् पाठे—अनु म्रियते इत्यनुमृत् तेनेति व्युत्पत्त्या क्विबन्त तृतीयान्तत्वेन स्वीकृते तदर्थे न दोषः। व्याख्यातश्च तथैव टीकायाम्। कारकशक्तिप्रक्रमभेदस्योदाहरणतया यत्पद्यमुद्धृतं रतिविलापात्—

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥

तत्र 'न च तेऽहं कृतवत्यसम्मत' मिति पठनीयमिति ब्रूते व्यक्तिविवेककारः। कर्तृकारकस्योपक्रमात्तथैव निर्वोढुमुचितमिति तदभिप्रायः। वस्तुतस्तु न तेन प्रकृत-करुणरसविषये कश्चित्परिपोषः सम्भवति प्रत्युत प्रतीतिमान्थर्यमेव। यतः 'प्रतिकूलं न च ते मयाकृत'मित्युक्त्या यादृशः स्वानुनयपरिपुष्टः शोकोत्कर्षः, न तथा 'असम्मता'द्युदासीनशब्दप्रयोगादिति सहृदया विभावयन्तु।

शाब्दप्रक्रमभेदस्योदाहरणतया रघुवंशस्याष्टमसर्गस्थमजवर्णनपरं पद्यमिदमुदाजहार व्यक्तिविवेककृत्—

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसताञ्च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥

तत्रत्या तदीयेयं समीक्षा—"अत्र हि अनुयातिक्रियाकर्मभावो वरुणस्यार्थः प्रक्रान्त इति तत्राऽस्य तादृश एव हेतुरुपादातुं युक्तः । यस्तु असन्नियमलक्षणः शाब्दो हेतुरस्य अन्येषामिवोपात्तः सप्रक्रमभेदो दोषः तस्याऽप्युक्तयुक्त्या रसभङ्गपर्यवसायित्वात् । तेनाऽयमत्र पाठः पठितव्यः—'नियमयन्नसतः स नराधिपः' इति । एवञ्च विभक्तिप्रक्रमभेदश्च शब्दश्च उक्तनयनिरस्तसमुच्चयविषयभावः क्रमभेददुष्टश्च परिहृतौ भवतः ।" इति । तत्रेदमालोच्यतामर्हति—अनुयातिक्रियायां यमपुण्यजनेश्वरयोरिव वरुणस्यापि कर्मता इत्यत्र न विवादः 'सवरुणौ' इत्युक्तेः । यमकुबेरयोः शाब्दोहेतुरनुगमने वरुणस्य तु आर्थ एव कश्चिदन्यः । असन्नियमनं साक्षात्तु यम एव सङ्गतं न वरुणे तत्र तु बलात्संयोज्यत इति या सरणिः साऽपि न हृद्या । अत्र शब्दोपात्तास्त्रयोऽपि हेतवस्त्रयाणामनुगमनप्रवर्तकाः । समतया यथापराधदण्डविधानेन यमः, वसुवृष्टिविसर्जनेन कुबेरः, असतां नियमनेन वरुणश्च अनुगम्यन्ते नृपालेन । इत्थमेव व्याचष्टे मल्लिनाथोऽपि 'यमकुबेरवरुणान् यथासंख्यमनुययौ' इति द्वयोरेव हेत्वोः कल्पने यमकुबेरयोर्व्युत्क्रमेण कर्मतापत्तिरिति नूतनदोषोद्भेदः स्यात् । किञ्च—'समतया नियमनात्' इत्यनयोर्विभक्तिभेदात् अतुल्यकक्षतया 'च' कारस्य समुच्चायकत्वमपि न युज्यते इत्युक्तिरपि वञ्चनामात्रमेव । यतस्तावत् अत्र पाठक्रमापेक्षया अर्थक्रमस्य बलवत्त्वं स्वीकरणीयम् । तृतीयान्त-पञ्चम्यन्तयोरुभयोरपि पदयोः हेतुवाचकत्वमस्त्येव, तदेवाऽत्राऽनुगमनार्थमपेक्ष्यत इति समुच्चायकस्य 'च' कारस्य प्रयोगोऽपि न दुष्यति । यच्च शाकुन्तलीयं क्रमप्रक्रमभेदोदाहरणमाह —

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥

अत्र हि उद्देशक्रमेण प्रक्रान्तानां पदार्थानामनूद्देशे वैपरीत्येन भणितिर्दोषावहा इति। अत्र समाधत्ते व्यक्तिविवेकव्याख्याता रुय्यकः—पाठक्रमापेक्षया चूलिकाक्रमस्य (करकङ्कणक्रमस्य) रमणीयत्वम्। अर्थात् पूर्वपरिधृतानां कङ्कणानां यथा पश्चादवतारणं तथैव पूर्वनिर्दिष्टानां पश्चान्निर्देशः। कामस्य सम्मुखीनत्वाद् युष्मत्पदबोध्यत्वमित्यादि। पाणिनिसूत्रेऽप्येवं दृश्यते योजना 'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात् षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ' इत्यत्र इति। वयन्तु प्रकारान्तरेणैतत्परिहरामः। पूर्वं कामचन्द्रावुद्दिश्य पश्चात् 'द्वय'मिति वदता तयोः समुच्चयः कृतः कविना 'दृश्यते मद्विधेषु' इत्युक्त्या वाक्ययोजना पर्यवसिता। पुनर्द्वितीयवाक्ययोजनायां स एव क्रमो नियमेन ग्राह्य इति न नियमः। अपरञ्च विरहाधिक्यादुद्विग्नमनसो नायकस्यैवं प्रायाः व्यत्यस्तसन्दर्भा भणितयो रसस्योत्कर्षायैव प्रभवन्ति नाऽपकर्षायेति वृथैव दूषणान्वेषणप्रयासः। क्रमभेदः क्रमाभावो वा यथा—

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः'

अत्र जलधरे दृप्तनिशाचरारोपो निषेध्यत्वेन व्यवस्थितः तत्र निषेधविषयवाचकजलधरपदेन सहैव 'इदं' शब्दो निवेशनीयोऽपि तद्विशेषणीभूतसन्नद्धपदेन सह प्रयुक्तः कविना इति क्रमभेदः। यथा 'शुक्तिकेयं न रजतम्' इत्यादि।

तत्रेदं समाधानम्—अस्मिन् पद्ये न सर्वत्र 'इदं' शब्दस्य विषयवाचकेन सहोपादानम्। चतुर्थे पादे 'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी' इत्यत्र तु सर्वथा तदभावः। तर्हि विषयविषयिभावाऽवगमे निषेध्यविधेयभावाऽवगमः कथमिति चेत् सामर्थ्यादेवेति निर्णयः। यथा—'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा' इत्यादौ यथा 'य उत्पत्स्यते तं प्रति' इति यत्तदोः सामर्थ्यादेव तथा प्रतीतिः। वाक्यार्थप्रतीतिप्रतिबन्धाभावात्प्रस्तुतरसास्वादस्य निर्विरोधमनुभवाच्च न चोद्याऽवसरः। एवं प्रत्ययविषयं पौनरुक्त्यं यदुदाहृतं—'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः' 'त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनी'मित्यादौ 'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात् क्रमस्य' इत्युक्तयदिशा बहुव्रीहिसमासेनैव निर्देशः कर्तव्यः। 'बिसकिसलयच्छेद पाथेयाः' 'त्वगुत्तरासङ्गा' मित्यादिप्रयोग एव श्रेयान् इति।

तत्रेदमुत्तरम्—'मतुपः' प्रयोगस्य क्वचिद् विशिष्टार्थप्रत्यायकत्वमस्त्येव।

प्रकृतिप्रत्ययादीनां व्यञ्जकत्वस्य कविसम्प्रदाये प्रसिद्धिः। एवं बिसकिसलयादि-संसर्गकृतं रामणीयकमवबोधयन्तो मतुबादयो न निष्फलाः प्रत्युत विशिष्टार्थ-व्यञ्जकतया नितान्तमादरणीया एवेत्यलमाक्षेपेण। उपमाविषयकं पौनरुक्त्यमुपदर्शयता या कालिदासोक्तिरुपन्यस्ता—

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान् ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥

इति। अत्र एकेन 'इव' शब्देन औपम्यनिर्वाहे सम्भवत्यपि 'ज्योत्स्नान्तराणीव' इत्यत्र द्वितीय 'इव' शब्दोपादानं पिष्टमेव पिनष्टि इति। तत्रेदं समाधानं युज्यते- इयमुपमा तावद् वाक्यव्यापिनी, तत्रैको धर्मः अभिन्नः, अपरो धर्मश्च भिन्नः प्रतिभाति। पूर्वार्धे दिने दिने परिवर्धमानत्वं, लब्धोदयत्वञ्चेत्यर्थश्लेषवशादभिन्नोधर्मः प्रतिपादितः। उत्तरार्द्धे—लावण्यमयाऽवयवपोषणं ज्योत्स्नामयकलान्तरपोषणञ्चेति भिन्नो धर्मो बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनोपात्तः। अन्तर्गर्भितमुपमानवाक्यं परिकल्प्य उपमेयवाक्यं योज्यते यथा च 'यथा चान्द्रमसीकला कलान्तराणि पुष्णाति, तथैव सा पार्वती लावण्यमयान् विशेषान् पुपोष' इति। अतस्तत्र स्फुटतरप्रतीतये द्वितीय 'इव' शब्दयोजनं न दोषाय। अतएव दण्डिनाऽप्युक्तम्—

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते।
एकाऽनेकेव शब्दत्वात्सा तु वाक्योपमा द्विधा॥ इति।

एवमेव— अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

इत्यस्मिन्नपि पद्ये—चुम्बतीवेत्यत्र 'इव'शब्द पुनरुक्तः। चुम्बतेर्मुख्यार्थबाधे सति तत्सदृशार्थप्रतीतेस्सामर्थ्यसिद्धस्बोपपादनात्' इत्याह व्यक्तिविवेककारः। तन्मते लक्षणामूलध्वनिचमत्कारेणैव निर्वाहे नास्ति उत्प्रेक्षायाः प्रयोजनम्। अत्र तद्व्याख्याकारो रुय्यकस्तु 'विच्छित्तीनां नानाविधतया पृथक् चमत्कारोपपत्तौ न दोष' इत्याह। वयं तु—लक्षणामूलध्वन्यपेक्षयाऽत्र वाच्यालंकारस्य प्रकृतशृङ्गाररसपरिपोषकत्वं युक्तमुत्पश्यामः। इदं हि पद्यं चन्द्रोदयवर्णनात्मकतया प्रकृतशिवपार्वतीप्रणयलीलापरिपोषणायैव उपात्तम्। किञ्च-"अङ्गुलीभिरिवे"त्यत्राऽपि

उत्प्रेक्षा, उत्तरार्धे च तत्समर्पिता द्वितीयोत्प्रेक्षा इत्यनयोः सजातीयसंसृष्टिः शोभावहैव—

एकैवालंकृतिर्यत्र शाब्दत्वाऽऽर्थत्वभेदतः ।
द्विरुच्यते तां मन्यन्ते पुनरुक्तिमतिस्फुटाम् ॥

इति महिमभट्टदर्शितया पद्धत्या—

"उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥"

इत्यस्मिन्पद्ये शब्दाभ्यामेकवारं श्रौतीमुपमामुदाहृत्य तस्मिन्नेव विषये 'तत्सम' 'तत्सदृश' शब्दाभ्यामार्थ्युपमा कविना प्रयुक्तेति पुनरुक्तिदोषः । अत्रेयं विमर्शपरिपाटी—न तावदत्र एकविषयत्वेनैवोपमाद्वयं किन्तु भिन्नविषयत्वेन । पूर्वं नन्दनक्रियासापेक्षं सादृश्यं द्वितीयन्तु प्रभावादिनिमित्तकमिति भेदः । धर्मः क्वचिच्छाब्दः, क्वचित्तु आर्थ एव भवतीत्यत्र न तद्विदां शंका समुदयते । इत्थमेव समर्थ्यते व्याख्याता रुय्यकोऽपि । पद्यऽस्मिन्नन्यान्यपि दूषणान्युद्भावयति महिमभट्टः तथाहि—'उपमानयोर्यो निर्देशक्रमः प्रक्रान्तः स उपमेययोः क्रमे भेदं नीत इति निर्देशप्रक्रमभेदो दोषः तत एव च 'तत्समौ' इत्यत्र अवाच्यवचनदोषोऽपि तावत् स्फुट एव । उपमानयोर्यत्वानुपपत्तेः'—इत्याह । यद्यप्यत्र उपमानपदार्थानां द्वन्द्वेन निर्देशः नोपमेयानां तथा तावता किं नाम हीयते ? नह्युभयसम्बन्धे कश्चन बाधो येन नोपमालङ्कारो सङ्कटताम् । 'तत्समौ' इत्यस्य 'अवाच्यवचन' दोषस्तु धर्मभेदादुपमाभेदस्वीकारादेव परिहृतो भवति । एवमन्यदपि यद्दूषणमुत्पाद्य समाधीयते —यथा-'किञ्च तथा शब्दस्य यद्वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः, तद्व्यतिरेकेणाऽप्यर्थयोः विपर्यासमात्रेण तदर्थावगतिसिद्धेः । तस्मादेवमत्र पाठः श्रेयान् —'सुजन्मना तेन सुतेन तावुभौ ननन्दतुः सा च विशांपतिश्च सः । उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।' इति । तदेतत्सर्वमापातरमणीयम् न तु वस्तुतत्वमनुहरति । पाठभेदप्रकल्पनायां पाठानां बहुविधतया तत्तद्वाक्यरचनानुसारेण तत्तदर्थावगमः इत्यत्र न किमपि वक्तव्यम् । शब्दशक्तीनां सन्निवेशवैचित्र्येण विभिन्नार्थबोधकत्वं स्वभावसिद्धम् । यस्तु श्रीमता महिम्ना पर्यवस्थापितः पाठः सोऽपि सदूषण एवेति दिङ्मात्रमुपदर्शयामः—तथाहि प्रक्रमात्पूर्वमेव 'तेन सुतेन' 'तावुभौ' इति प्रक्रान्त-

परामर्शकस्य तच्छब्दस्य निर्देश इति अवाच्यवचनान्नातिरिच्यते । 'तावुभौ' इत्युप-क्रम्य 'सा च विशांपतिश्च सः' इत्यत्र तदुक्तरीत्यैव निर्देशप्रक्रमभेद इत्यादिकं विद्वद्भिरूहनीयम् । तस्मान्महाकवेः पाठ एव श्रेयान् एवमन्यत्रापि—

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्षमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥

पद्यमिदं लक्ष्यीकृत्य समीक्षते महिमभट्टः—'अत्र हि लक्ष्म्या 'अबला खण्डितेव' इति यदुपमानमुक्तं तत् पुनरुक्तम् । तस्यास्तत्तुल्यवृत्तान्ताभिधानसामर्थ्यादेव अनन्त-रोक्तनयेन तदर्थावगतेः' इति । अयमाशयः—समासोक्तिविषयाऽप्रस्तुतव्यवहार-प्रतीतेरेव खण्डितावृत्तान्ताऽवगमान्नोपमाप्रयोजनीया इति । अत्रायमभिसन्धिर्महा-कवेः प्रतिभाति—लक्ष्म्यां पत्युरन्यासङ्गवशात्परिम्लानाशयाया खण्डितायाः साधर्म्यं प्रतिपिपादयिषितं परं खण्डितात्वप्रयोजकस्य हेतोर्यावन्न स्फुटं प्रतीतिर्न तावत्तद्-व्यवहारप्रतीतिरपि सम्भवतीति 'निद्रावशेन' इति पदज्ञानमेव तत्र कारणम् ।

लोकव्यवहारप्रसिद्धिबलात् 'निद्रावशेन' इत्यस्य 'शयनपरवशेन' इत्येतावन्मात्र-मर्थं प्रतिपद्यते जनः न तु लिङ्गसाम्यान्नायिकाव्यवहारो झटिति बुद्धिमुपारोढुं क्षमते । अतएव 'अबलानिशिखण्डितेव' इत्युपमया तस्य स्फुटीकरणं युज्यते ।

एवं—'सुरभिसङ्गमजं वनमालया' इत्यादि वसन्तवर्णनपरं रघुवंशस्थं पद्यं महिमभट्टेन स्वकल्पितपाठभेदेन दूषितमिति न तत्र विचाराऽवसरः ।

धर्मस्तुल्यविभक्तीनामेकस्याप्युदितोऽखिलान् ।
तानन्वेतीति पर्यायैस्तदुक्तिः पौनरुक्त्यकृत् ॥

इति महिमभट्टीयसमीक्षया—

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥

इति रघुवंशस्य दशमसर्गस्थे पद्ये 'स्वाभाविकं' 'सहजं' इति एकस्यैव धर्मस्य पर्यायेण पृथगुक्तिर्दूषणीयतामावहति । तत्रेयं प्रतिभाति—एकस्यैव धर्मस्य पृथगुपादा-

-भ्य।मभिधानं वस्तुप्रतिवस्तुभाव इत्युच्यते साहित्यसरणिधुरीणैः। स च बहूनाम-लंकाराणामुपपादको भवति। पृथक् पदाभ्यां पर्यायेण चोपादानान्न पुनरुक्तिदोष न चैकमेव वस्तुतत्वम्। उपमानोपमेयपदार्थयोर्भेदेन तद्गतस्वभाविकत्वादेवैजात्यं सिद्धमेव।

किञ्च—'अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदिशल्यमर्पितम्' इत्यत्र 'तं कृपा-मृदुरवेक्ष्य भार्गवम्' इत्यादौ च मूढत्वं, मृदुत्वं वा मनसो धर्म एव नान्यः पदार्थ इति मूढः, मृदुः, इत्यादि प्रयोक्तव्यमन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्ग इति यद्विवेकमाह विवेक-कारः स तु सुतरामविवेकमनुबध्नाति। यतः—मन्दबुद्धिस्तीव्रबुद्धिः, दयार्द्रः, कृपार्द्रः इत्यादीनां लोकप्रसिद्धानां शब्दानां रूढतया न तथा पुनरुक्तिजिज्ञासैव समु-न्मिषति इति अलमत्र पल्लवितेन।

विक्रमोर्वशीये पद्यांशे वाच्यावचनं यदाह—'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी' इत्यत्र—भ्रान्तौ निवृत्तायां तद्विषयभूतयोः सुरधनुर्धारासारयोरिव विद्युतोऽपि इदमापरामर्शो वाच्ये यत् तस्याऽवचनं स वाच्यावचनं दोषः इति। अत्र पूर्वमेव दत्तमुत्तरम्। निषेध्यविधेययोः सामर्थ्यादिवप्रतीतिर्भवति न च 'इदमः' सर्वत्र समानोऽत्र प्रयोगोऽपि इति।

किञ्च 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इत्यत्राऽपि वाच्यावचनं दोषमुत्पश्यति महिमभट्टः तदीय कर्णामयं निष्कर्षः-अत्र त्रयः पक्षाः सम्भवन्ति कपालिशब्दो धर्मिधर्मोभयार्थवृत्तिः संज्ञिमात्रप्रत्यायको वा, कपालसम्बन्धकृतगर्हितत्वप्रत्यायको वा, उभयप्रत्यायको वेति। तत्र प्रथमे पक्षे—गर्हितत्वाऽवगतये कपालिग्रहणमपरमपि कर्तव्यं स्यात्। द्वितीयपक्षे—तस्याऽऽश्रयप्रतिपत्तये तेनैव—तत्पर्यायेण सर्वनाम्ना वा विशेष्यमवश्यमुपादेयम्। तृतीयस्तु पक्षो नैव सम्भवति आवृत्तिमन्तरेण शब्दस्याऽनेकार्थप्रतिपादनाऽसामर्थ्यात्। तेनाऽयमत्र पाठः स्वल्पदोषतया कल्पनीयः—'द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इति।

तदेतत्सर्वमाहोपुरुषिकामात्रम्। यतः—कपालिशब्दोऽत्र—कविना पिनाक्यादि-पदपरिहारपूर्वकमुपात्तस्तात्पर्यविशेषेण। ततस्तस्य वाच्यतादशायां धर्मिधर्मो-भयार्थवृत्तेः संज्ञिप्रत्यायकत्वं न विरुद्ध्यते। व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिकाले धर्मविशेषसम्बन्ध-

कृतस्य गर्हितत्वस्य प्रतीतिः शोच्यतामतिशाययति । 'गङ्गायां घोष' इत्यादावविवेकस्य पदस्यापि यथास्वं वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याद्यर्थबोधकत्वमुपपद्यते अतः न तत्र पदान्तरकल्पनाऽऽवश्यकतां भजते। स एवाऽत्र समाधिः। किञ्च महिमभट्टकृते पाठेऽपि दोषोऽस्त्येव। प्रक्रमात्पूर्वमेव सर्वनाम्ना निर्देशात्। एवमेव —

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥

अत्र —'राजेन्दु'रिति रूपकमाहृत्य पश्चादुपमा समुपात्ता वैरस्यमावहति सा न वाच्या इत्याह। अत्र मल्लिनाथस्तु 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्यनुशासनाद् 'राजेन्दुः' इत्यत्रोपमामेवाऽऽह। सा च श्रेष्ठत्वमात्रबोधिका। द्वितीयातूपमा वाक्यार्थव्यापिनी 'शुद्धिमतिशुद्धिमत्तर.' 'इन्दुः क्षीरनिधौ इव' इत्यनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाऽवस्थानात्। इति तद्दृष्ट्या समाधानम्।

वयन्तु रूपकमेव युक्तं मन्यामहे समासवशात्तत्प्रतीतेर्वैचित्र्यभेदेनाऽलंकारभेदस्य जागरूकतया चमत्कारात्। रूपकं पदगतं उपमा वाक्यगतेति आश्रयभेदोऽपि न चैऽस्मिन्नेव विषये 'इन्दु' पदार्थस्य द्विवारमुपमानतया प्रयोगो दोषायेति वाच्यम्। यतः—'राजेन्दु' इत्यत्र धर्मिणोरेवाऽभेदप्रतीतिः सादृश्यप्रतीतिर्वा उपमायामग्रिमायां तु स्वाश्रयविशिष्टयोरुपमानोपमेययोः प्रतीत्या कश्चन चमत्कारभेदः स्फुरतीति न पौनरुक्त्यं वाच्याऽवचनं वा सम्भवेदिति कविमार्गकौशलकोविदानामपरोक्षमेव।

यच्च रघुवंशस्य षोडशे सर्गे कुशस्य वर्णने पद्यमुदाहृतम् —

तेनाऽवरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयाति लीलः ॥

इत्यत्र अनुयातिक्रियापेक्षो राजमरुत्वतोः कर्तृकर्मभावोऽभिधातुमिष्टोऽपि न प्रतीयते लीलासंबन्धद्वारैव तत्प्रतीतेः। अतोऽत्र वाच्याऽवचनं दोषः। साक्षात् राज्ञसंबन्धस्यैव वक्तुमुचितत्वात्। न च तदर्थं क्रियान्तरमप्युपात्तम्। अतोऽत्र पाठान्तरमेवं कल्पनीयम् —'आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतोऽनुयातो मघवा विलासैः' इत्यालोचयाञ्चकार। तत्रेयं विमर्शसरणिरनुसरणीया—अनुयातिक्रियार्थः सादृश्यप्रतीतिरेव तत्फलमुपमालंकारसङ्घटना। सा उपमा यदि भङ्ग्यन्तरेण निरूप्येत

तर्हि ततोऽपि चारुतोत्कर्ष इत्यत्र न विवादः। एवमत्र—'उपमाने तु लीलादि पदाढ्ये ललितोपमा' इति प्राचीनोक्तरीत्या ललितोपमाचमत्कारः स्पृहणीयतामादधानः केन वा न स्वीकरणीयः। कर्तृकर्मभावस्तु नाऽलंकारप्रतिबन्धक इत्यपि अविवादसिद्धम्। निदर्शनालंकारो वा संभवेदत्र। इति वृथेयं खण्डिकोपाध्यायपरिपाटीव्यक्तिविवेककारस्य। एवं कुमारसंभवीयेऽधस्तने पद्ये—

'मधुश्च ते मन्मथ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणः प्रेरयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य॥"

अत्राऽन्वयार्थमाकाङ्क्षितानां पदानां यथोचितसंपर्काभावात् वाच्यऽवचनदोषप्रसङ्गः। अत्रैव यदि—'व्यादिश्यते केन समीरणो वा हविर्भुजश्चोदयिता भवेति' इति पाठे न दोष इति विवेचयति स्म। व्यादेशसमीरणयोरव्यवधानस्यैवाऽपेक्षितत्वादिति। तत्रेयं विचारदिक्—वाक्यघटकानां पदानां यथोचितार्थनिष्पत्त्यै सन्निधानरूपाऽऽसत्तिः साधारणतया सर्वैः स्वीक्रियत एव, परं पद्यबन्धे पदानामधरोत्तरभावः कवीनां रचनापारवश्याज्जायते। यत्र तु न स्फुटा प्रतीतिः, अनपेक्षितान्वययोजनाजन्या विसष्ठुला वा प्रतीतिस्तत्रैव दूषणमेतदुत्कन्धरं भवेत्। 'अभवन्मत' नाम्ना दोषोऽयमग्राहि बहुभिर्ग्रन्थकारैः। 'व्यादिश्यते केन' इत्यनयोः पदयोर्मध्ये सन्निवेशेऽपि व्यादेशकर्मता समीरणमेवाऽऽलम्बते विभक्तिबलादिति नान्वय सन्देहाऽवसरः। अतोऽत्र न दूष्यतावसरः।

एवमग्रे 'अनन्वय' संज्ञया निर्दिष्टमवाच्यवचनमुदाजहार रघुवंशस्य नवमे सर्गे—

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनान् जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूत् वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगाणाम्॥

इत्यत्र तदीयोऽयमाटापः—'अत्र हि सिंहानां तावन्न राजशब्दसंबन्धः संभवति तेषां तद्वाच्यत्वाऽभावात् तत्संबन्धाऽभावाच्च। तत्पर्यायस्य मृगराजशब्दस्य सन्नपि असौ अनुपयुक्त एव तस्य प्रक्रान्तत्वाऽभावात् मृगाणामित्यत्र मृगराजानामित्येवमनुक्तेश्च। किञ्च मृगेषु राजत्वं भवति सिंहानां न तु शब्दे इति वीर्योदग्रत्वं तद्विशेषणमनुपपन्नमेव तस्य अर्थनिष्ठत्वेनोपपत्तेः। तेन न सिंहानां न मृगाणां न वीर्योदग्रत्वस्य च राजशब्देनाऽऽन्वयः सङ्गच्छत इत्यवाच्य एवाऽसौ। तेन 'राजभावे' इति 'मृगेष्वि'ति वा वाच्ये तदवचनं दोषः इति।' तत्रेयं संक्षेपेण समीक्षा— न खलु अत्र

सिंहानां केवलेन राजशब्देन संबन्धोऽभिधातुमिष्टः को वा ह्यनुन्मत्तस्तेषां राजशब्द-वाच्यतां मन्यते ? न च 'मृगराज' पदस्याऽनभिधानात्तत्संबन्धो दुष्कर इति वाच्यम्। 'मृगाणा' मिति संबन्धषष्ठ्या मृगसंबन्धिनि राजशब्दे इत्यर्थस्य सुलभत्वा-दभीष्टत्वं निर्बाधम्। 'मृगराज' शब्दस्य प्रक्रान्तत्वाऽभावेऽपि सिंहानां प्रक्रान्तत्वं 'क्षोभयामास सिंहान्' इति निर्देशादस्त्येव। अतस्तत्सम्बन्धवशान्मृगराजशब्दप्रतीतौ न कोऽपि बाधः। 'राजशब्द' इत्यस्याऽभिधेयनिरपेक्षे पदमात्रे इत्यर्थकरणं तु प्रतारणामात्रम्। 'राजशब्दे' इत्यस्य 'राजशब्दवाच्यताया' मित्यर्थः स्वीकार्यः प्रतिवादिनाऽपि। अतो वार्योदग्रत्वसंबन्धोऽपि निष्प्रत्यूह एवेति सिद्धम्। एवमत्र न काऽप्यन्वयाऽनुपपत्तिरिति विभावनीयम्।

पर्यायमात्रभिन्नस्य यदेकस्यैव वस्तुनः।
उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनञ्च तत्॥

इत्यवाच्यवचनाख्यदोषस्य उदाहरणतया रघुवंशे रामचन्द्रस्याभिषेकप्रसङ्गागतं पद्यमिदमुपन्यस्तम्—

'सरित्समुद्रान् सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्याऽपतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवाऽऽपः॥

अत्र पद्ये—"एकस्यैवाऽर्थस्य (जलरूपस्य) यः पर्यायमात्रभेदेन भेदमुपकल्प्य उपमानोपमेयभावो निबद्धः सोऽवाच्यवचनं दोषः। तस्य भिन्नार्थनिष्ठत्वात्। तद-यमत्र पाठो युक्तः 'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत्' इति। अस्मिंश्च पाठे भिन्नलिङ्गत्व-मुपमादोषोऽपि परिहृतो भवति इत्यालोचयाञ्चकार। अत्र निक्षिप्यतां सविमर्शं चक्षुः—एकस्यैवाऽर्थस्य पर्यायेणाऽपर्यायेण वा नोपमानोपमेयभाव इत्युक्तिस्तु साहित्यविदां न हृदयमनुरञ्जयति। अनन्वयोपमेयोपमाऽन्योन्यप्रभृतिष्वलंकारेषु बहुशस्तथा दर्शनात्। किञ्च नाऽत्र निर्विशेषजलत्वेनोभयोर्जलयोः साम्यं तथात्वे दूष्यता स्यादपि। किन्तु सरित्समुद्रादिभवत्वमेघप्रभवत्वविशिष्टयोरेव जलयोरुपमा-नोपमेयभावः। एकस्यैवार्थस्य देश-काल-विषयादिभेदेन साम्यमुपनिबध्नन्त्येव कवयः।

यथा—'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवाऽऽगमनात्पुनः॥'

इत्यत्र एकस्यैव वस्तुनः साम्यं व्यङ्ग्यत्वेनोक्तम् । किञ्च 'जलानि' 'आपः' इत्यनयोर्लिङ्गभेदोऽपि न दोषाय । राज्याभिषेकसमये बहुविधानामपामभिषेकस्यैव विहितत्वाद्, लिङ्गभेदस्याऽकिञ्चित्करत्वाच्च । तथैवाऽवाच्यवचनदोषप्रसङ्गेन रघुवंशस्याष्टमे सर्गे—

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥

अत्र 'दश' शब्द 'रथ' शब्दयोः पृथगभिधायकत्वाऽभावात् दशपदपूर्वको रथशब्द इत्याद्यर्थकरणस्य विलम्बेनोपस्थानात् अवाच्यवचनत्वमित्याचष्टे । तदेतन्नविशेषतो विचारणीयं नाम—यतः पद्यमेतद् वस्तुमात्रनिर्देशकं न तत्कालं कञ्चन रसभावादिकमनुसरतीति कौतुकिना कविना शब्दचित्रविधयाऽवतारितम् । एवंविधेष्वेव स्थलेषु चित्ररचनाया अवसरः । तत्र 'दश' शब्दावृत्तिकृततच्चमत्कारमनुभवतः तादृशोऽन्वयः किञ्चिदूह्योऽपि न दोषाय फलमुखगौरवस्याऽदोषतास्वीकारात् । एवमग्रेऽपि—

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥

अत्राऽप्यवाच्यवचनप्रसक्तिः । अत्राऽपि 'कृपामृदुमनाः' इत्यत्र 'मनः' शब्दः पुनरुक्तः 'प्रतिसञ्जहार' इत्यत्र 'प्रति' इत्युपसर्गो निरर्थकः । कर्णान्तकर्षणं धनुष एव न तु बाणस्य । इत्येवमादीनामवाच्यत्वमेवेति यदुच्यते तस्येयं निराससद्युक्तिः— तत्र 'अवगच्छति मूढचेतनः' इत्यत्राऽभिहितया रीत्या 'मनः' पदसमाधानम् । अथवा मनःपदोपादानात् विशेषतः कृपोद्रेकः प्रतीयते शिरः शेखरादिवत् कृपायाः सातत्यसान्निध्यप्रतीतिर्वा । नचाऽयमप्रयुक्तप्रयोगः बहुभिस्तथा प्रयुक्तत्वात् । धनुषः कर्षणेऽपि बाणस्याऽपि सम्बन्धः तस्यैव प्रतिसंहारविषयत्वञ्चेति तत्सम्बन्धो न विरुद्धः । 'प्रतिसञ्जहार' इत्यत्रोपसर्गः साभिप्रायः यथा विवृणुते मल्लिनाथोऽपि —'आकर्णकृष्टमपि । दुष्प्रतिसंहारमपि इत्यर्थः प्रतिसञ्जहार नैपुण्यादित्यर्थः । नैपुण्यं तु धन्वीत्यनेन गम्यते' इति । इत्थमवदातमिदं स्थलम् । एतद्दोषप्रसङ्गेनैव

रघुवंशस्थं वसन्तवर्णनपद्यमिदमुद्धरन्—

'अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपंक्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥'

अत्र समासोक्तिवशादौपम्ये प्रतीयमानेऽपि तिलकप्रमदयोरेकतरस्मिन् वाच्ये यदुभयोर्वचनं तदवाच्यवचनं दोषः इत्यूचे । अत्रापि 'अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः' इत्युक्तरीत्या श्रृङ्गारोद्दीपनैकाङ्गस्य वर्णनस्याऽस्य प्रस्तुततया तत्र कामिन्युपमा सपदि रसानुगामिनी प्रकृतरसप्रतिकूलत्व एवालङ्कार-निरासः समुचितः । यथाऽत्र शब्दालङ्कारस्यापि यमकस्य प्रकृतरसप्रतिबन्धकत्वं नाऽनुभूयते प्रसादाऽपरित्यागात् । प्रत्युताऽलङ्कारमध्ये यद्यलङ्करणान्तरमौचित्येन सन्निवेश्यते तदा सुतरामुत्कर्षः । यदुक्तं वक्रोक्तिकारेण—

अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम् ।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥ इति ।

एतदुत्तरमेव सङ्गच्छते । एवं रघुवंशस्य षोडशे सर्गे 'कुशंद्विषामंकुशमस्त्रविद्वान्' इति पाठे 'अंकुशवस्तुविद्वान्' इत्यपपाठं परिकल्प्य 'वस्तु' पदप्रयोगनैरर्थक्यं ब्रूते तत्सर्वमस्थानपाण्डित्यमेव । अत्र सौपर्णास्त्रप्रयोगेण—कुमुदाख्यनागस्य पराभवकथायाः स्फुटत्वात् ॥

साहित्यशास्त्रे ध्वनिस्वरूप रसविमर्शश्च

संस्कृतसाहित्यशास्त्रे सन्ति बहुविधानि प्रस्थानानि तत्तदाचार्यशेमुषीविशेष-प्रतिभासितानि । तत्र सर्वेषां शास्त्राणामुद्गमो भगवतः श्रीकण्ठादेवेति 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूताना'मित्यादि श्रुतिवचनैः'—

अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम् ।
आदिकर्ता कविः साक्षात् शूलपाणिरिति श्रुतिः ॥

इत्यादिस्मृतिवचनैश्च प्रामाणिकैरभ्युपेयते । कविशेखरेण राजशेखरेणापि काव्यमीमांसोपक्रमे—'अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे, यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः' इत्यादिना उपक्रम्य काव्यपुरुषोत्पत्ति-मभिधाय तदीयशिष्यपरम्परया बहुशाखोऽयं वाङ्मयपादपः सुविततः फलितश्चा-भवदिति प्रत्यपादि । तत्रैव 'रूपकनिरूपणीयं भरतः' इत्याचार्यभरतस्य नाम पठ्यते, यन्मूला सम्प्रति साहित्यशास्त्रचर्चा ग्रन्थशतैर्विस्तारमागता विद्वद्भिरनु-भूयते । आग्नेयमहापुराणे च साहित्यशास्त्रविषयिणी कापि चर्चा लोचनगोचरी-भवति ।

सर्वेषामपि शास्त्राणां वेदमूलकत्वात्तदुपकारकत्वाच्च प्रामाण्यमिति शिष्ट-मर्यादया साहित्यस्यापि वेदाङ्गोपाङ्गसमानत्वमेव प्रतिपत्तव्यम् भरतेनाऽपि-नाट्यशास्त्रे—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

इति नाट्यशास्त्रस्य वेदोपज्ञत्वमेव व्यवस्थापितम् । अत एव 'अलङ्कारः—सप्तममङ्गं ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः' इति तथ्यमेवाह राजशेखरः । एवमस्य सिद्धे प्रामाणिकत्वे तद्विवेचनं मतिमतां विमर्शपदवी-मुपयातुमर्हति ।

तत्र स्थूलदृष्ट्या ऐतिहासिकाः साम्प्रतं कांश्चन साहित्यसम्प्रदायान् व्यवस्थापयन्ति तद्यथा—रससम्प्रदायः, गुणसम्प्रदायः, रीतिसम्प्रदायः, अलङ्कारसम्प्रदायः, ध्वनिसम्प्रदायः, वक्रोक्तिसम्प्रदायः, औचित्यसम्प्रदायः, चमत्कारसम्प्रदायः इत्येवमादयः ।

वस्तुतः सिद्धान्तदृष्ट्या अलङ्कारसम्प्रदायः, ध्वनिसम्प्रदायश्चेति द्वितयी साहित्यशास्त्रस्य सीमानं व्याप्नोति । रसोऽपि ध्वन्यन्तर्भूत एवेति तन्निरूपात् स्फुटो भविष्यति । तत्र 'शब्दार्थौ काव्यमिति' काव्यलक्षणेऽस्मिन् प्रायः सर्वेषां न विप्रतिपत्तिः । काव्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दगतमर्थगतं वेति विवादस्तु सव्येतरविषाणयोः प्राथम्यपरिचर्चासमकक्षस्तर्कचर्वणामात्रपर्यवसायी ।

तत्र 'विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यमिति' लक्षणं सकलवादिसंप्रतिपन्नम् । परं तद् वैशिष्ट्यं बहुधा विभिद्यते । तथाहि-वैशिष्ट्यं तावत् त्रिविधं-धर्ममूलकं, व्यापारमूलकं, व्यङ्ग्यमूलकञ्चेति । धर्ममूलकमपि नित्यमनित्यञ्चेति द्विधा भिद्यते । नित्यधर्मरूपां रीतिमङ्गीकुर्वतां वामनादीनां सम्प्रदायः अनित्यधर्मरूपानलङ्कारामङ्गीकुर्वतां भामहोद्भटादीनामन्यः सम्प्रदायः । व्यापारमूलकवैशिष्ट्यवादिनामपि शब्दमूलकमर्थमूलकञ्चेति भेदद्वयम् । तत्र शब्दमूलको व्यापारो वक्रोक्तिसिद्धान्तमनुबध्नाति, अर्थमूलकश्च व्यापारो भोगकर्तृत्वादिरूपो भट्टनायकस्य । तृतीयश्च व्यङ्ग्यमूलकं वैशिष्ट्यं लब्धप्रतिष्ठमानन्दवर्धनाचार्यादीनाम् ।

इत्येवं सङ्क्षेपतः काव्यस्वरूपे समधिगते ध्वनिस्वरूपविमर्शः पादमाधत्ते, कोऽयं ध्वनिर्नाम ? 'ध्वन्' धातुः शब्दार्थको नादार्थको वा प्रायः काव्येषु परिगृहीतस्तत्र-तत्र दृश्यते यथा—'विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिशः' 'अयं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः' 'कपिर्दध्वान मेघवत्' इत्यादि । एतेषूदाहरणेषु नादविशेषसूचको ध्वनिशब्दः । वैय्याकरणानां मते ध्वनिशब्दो नादपर्याय एव यथा—

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥ इति ॥

साहित्यशास्त्रे प्रागपि आनन्दवर्धनाचार्यादयं ध्वनिसिद्धान्तो लब्धपदः समभूत्, परमलङ्कारवादप्राचुर्यात् प्रतिष्ठां न लेभे, अतएव ध्वन्यालोकप्रथमश्लोके—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः' इत्यत्र लोचनकारो विवृणोति 'बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाऽभिधानं स्यात् न तु भूयसां तद् युक्तम्। 'तेन बुधैरिति बहुवचनम्, एतदेव व्याचष्टे-परम्परयेति। अविच्छिन्नप्रवाहेण तैरेतदुक्तम् विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्तु आदरेणोपदिशेयुः। एतत्त्वादरेणोपदिष्टम्। तदाह—सम्यग् य आम्नातपूर्वः। पूर्वग्रहणेन इदंप्रथमता नाऽत्र सम्भाव्यत इत्याह" इति, एतल्लोचनविवरणं ध्वनिविचारस्य प्राचीनत्वं समर्थयति, यद्यपि ग्रन्थविशेषे तद्विषये प्राधान्याऽप्राधान्यविचारो नाऽऽसीत्।

एते काश्मीराचार्याः प्रायो महाभाष्यकारादिसिद्धान्तानुयायिन आसन्निति तत्रत्यपरम्परापरिचयान्निश्चीयते। अतएव ध्वन्यालोकप्रथमोद्योते "प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः" इति ध्वनिस्वरूपावतारः प्रदर्शितः।

तत्र प्रथमतो दिङ्मात्रेण वैय्याकरणमतमनुसन्धेयम् यदनुकरणे ध्वनिव्यवहारप्रवृत्तिः परवर्तिनां समजायत, पातञ्जलमहाभाष्यस्य प्रथमाऽध्याये पङ्क्तय इमाः पठ्यन्ते—'अथ शब्दानुशासनम् इत्यारभ्य अथ गौरित्यत्र कः शब्दः, किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः नेत्याह द्रव्यं नाम तत् कस्तर्हि शब्दः, येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः, अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं मा कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकारी अयं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते तस्माद् ध्वनिः 'शब्दः' इति।

अयमाशयो वैय्याकरणानाम्—पटादिभिर्वर्णसमुदायरूपैः क्षणिकैः पदैः स्फोटरूपो नित्यः शब्दो व्यज्यते तेन चाभिव्यक्तेन अर्थः प्रतीयते, इति तादृशस्य प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य वर्णसमुदायरूपस्य पटादिशब्दस्य ध्वनिरिति संज्ञा। ननु शब्दात्कथं पदार्थवाक्यार्थधीः? आशुविनाशिनां क्रमिकाणां वर्णानां मेलकाभावादानुपूर्व्या ज्ञातुमशक्यत्वात्। तस्मात् पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कार-

सहितान्तिमवर्णानुभवेन स्फोटो व्यज्यते । स च ध्वन्यात्मको व्यङ्ग्यात्मको वा, शब्दो नित्यो ब्रह्मस्वरूपः सकलप्रत्येधप्रत्यायनक्षमोऽङ्गीक्रियते । तद्व्यञ्जकश्च वर्णात्मकः शब्दः । पूर्वसंकेताद्यभावात् व्यञ्जनैव तत्र वृत्तिः । अर्थप्रत्ययरूपफलोत्पादकत्वात् प्राधान्यं स्फोटस्य, स्फुटयति प्रकाशयति अर्थमिति स्फोटः, ध्वनति स्फोटं व्यनक्तीति ध्वनिरित्युभयत्र व्युत्पत्तिः ।

सङ्केतग्रहनिरपेक्षबोधजनकतारूपं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमाश्रित्य काव्यमार्गपथिकैर्ध्वनिव्यवहारः प्रवर्तितः । उपजीव्योपजीवकयोरनयोर्मतयोर्विषयभेदाद् भेदोऽस्त्येव । वैय्याकरणानां शब्दजन्यार्थप्रतीतिसामान्ये विचारः, परवर्तिनां तु वैदग्ध्यमूलकविशिष्टार्थप्रतीतौ विचार इति भिन्नः पन्थाः । अत एव वाक्यस्फोटमेव प्रधानतया स्वीकुर्वतां खण्डनं काव्यानुपयोगितया काव्यप्रकाशे ध्वन्यालोके च निर्दिष्टमुपलभ्यते यथा—

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरपि अविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव' इति ।

वाक्यस्फोटवादिनामखण्डेत्यादिविशेषणविशिष्टः स्फोट एव प्रधानम्, पदपदार्थविभागस्तु अविद्यको व्युत्पत्तिदशायां कल्पितः । यथोक्तं भर्तृहरिणा— 'ब्राह्मणार्थो यथा नाऽस्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले । देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः' ।। देवदत्तो गच्छतीत्यादौ वाक्ये देवदत्तसम्बन्धिगमनस्याऽखण्डस्य प्रतीतेः, खण्डभूता देवदत्तादयोऽनर्थकाः स्युरित्यभिप्रायः । परं व्यवहारे प्रक्रियायां तैरपि पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैव भवति । काव्यञ्च व्यवहारोपयोगीति तत्र पद-पदांश-प्रकृति-प्रत्यय-निपातोपसर्गादीनां व्यञ्जकत्वमङ्गीकरणीयमेव । स्वीकृतञ्च तैरपि—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।। इति ।।

ध्वनिकारमते 'वाच्यवाचकसंमिश्रः' इत्युक्त्या वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वात् । 'शब्दात्मा' इति विशेषणात् शब्दनं शब्दव्यापारः स चाऽभिधादिप्रसिद्धिवृत्तिविलक्षण एव मन्तव्यः । सोऽपि ध्वनिः । काव्य-

मिति यो व्यपदिश्यते सोऽपि ध्वनिशब्दवाच्य एव। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदो-पचारात् ध्वनिसिद्धान्तप्रतिपादको ग्रन्थोऽपि ध्वनिरित्युच्यते। ततः शब्दे, अर्थे, व्यापारे, काव्यविशेषे, ध्वनिग्रन्थे च ध्वनिशब्दव्यवहारः सिद्ध इत्याचार्याऽभि-नवगुप्तपादानामाशयः। इदमेवाभिव्यञ्जकत्वं कैश्चित् साहित्यशब्देन प्रतिपाद्यते, यतः साहित्यं नाम शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावः न तु यथाकथञ्चित्सहभावः। यदुक्तं वक्रोक्तिजीवितकारेण—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ इति ॥

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावे निष्पन्ने नूनं तस्य कविविवक्षितार्थव्यञ्जनक्षमत्वं सिद्ध्यति। इदमेव तत्वं साहित्यस्य द्वादशसम्बन्धैर्भोजराजोऽपि श्रृंगारप्रकाशस्य सप्तमाध्याये रूपान्तरेण विशदयाञ्चकार यथा—'तत्राऽभिधाविवक्षातात्पर्यप्रवि-भागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषहानगुणोपादानालङ्कारयोगरसावियोगरूपाः शब्दार्थयोर्द्वादशसम्बन्धाः साहित्यमुच्यते' इति। इत्थमेव शारदातनयोऽपि भाव-प्रकाशने साहित्यस्वरूपमवर्णयत्।

परमेतदपेक्षया व्यञ्जकत्वव्यवहार एव युक्त्यनुरोधी प्रतिभाति यतः साहि-त्यस्य बहुविधसम्बन्धमूलकत्वेन व्यापकत्वात् तथा किमप्येकं लक्षणं कर्तुं न शक्यते, यथा ध्वनेः कर्तुं सुशकम्। यतो हि महाकवेः शब्दार्थौ मतिमद्भिः प्रत्यभिज्ञेयौ, ज्ञातचरौ अपि पुनः परिशीलनीयौ—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥

इत्युक्तदिशा कालिदासादीनां महाकवीनां रघुवंशादिकाव्यानि पठतामापाततः सामान्यार्थबोधे समानेऽपि विदग्धानां विहितश्रमाणाञ्च कश्चिदपूर्व एवार्थागमो बुद्धिविषयीभवतीति तत्र तयोः शब्दार्थयोर्व्यंङ्ग्यव्यञ्जकभाव एव हेतुः।

अतएव लोचनकारः 'प्रत्यभिज्ञेयौ' इति पदं व्याचक्षाण एवमाह—तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानम्। न तु तदेवेद-मितावन्मात्रम्। अत्रेदं तत्वं प्रत्यभिज्ञासम्प्रदायदृष्ट्या—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजात्तं प्रकाशयेत् ॥ इति ॥

यथा भगवतो निरुपादानसकलप्रपञ्चनिर्माणपटुत्वं तथैव महाकवेरपि प्रातिभजगन्निर्माणपटुत्वमवसीयते । अत एव वदन्ति ध्वनिकारादयः—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
श‍ृङ्गारी चेत् कविःकाव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
भावानचेतनानपि चेतनवत् चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहरति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

एतच्च सर्वं व्यञ्जकत्वमपेक्ष्यैव युक्तियुक्ततामालम्बते । यथा नादादेव विविधानां स्वराणां रागाणाञ्च विस्तारः यथा वा मयूराण्डरसन्यायेन सूक्ष्माया वाच एव अनन्तानां शब्दप्रकाराणामुत्पत्तिः तथैव कविप्रतिभैवाऽनन्तवैचित्र्यमयविश्ववर्णनचातुरीधुरीणा काव्यरूपेण परिणमति । एतत्सर्वमनुसन्धाय ध्वनिप्रतिष्ठापनाय प्रवृत्त आनन्दवर्धनाचार्यस्तल्लक्षणमेवमवतारयति —

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ इति ॥

अत्र 'अर्थः शब्दो वा' इति विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण । क्वचिदर्थस्य प्रधानतया व्यञ्जकत्वं क्वचित्तु शब्दस्य । अग्रे च 'व्यङ्क्तः' इति द्विवचनेन शब्दार्थयोस्सर्वत्र सम्भूयैव व्यञ्जकत्वमिति सूच्यते स्वश्चासौ अर्थश्च तौ स्वार्थौ, तौ गुणीभूतौ याभ्याम् । यथासङ्ख्येन तेन अर्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिधेयः तमर्थम्—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

इत्युक्तलक्षणं व्यङ्क्तः द्योतयतः स काव्यविशेषो ध्वनिः इति लोचनकारः । अयं ध्वन्यमानोऽर्थस्तावद् द्विविधः—लौकिकः काव्यव्यवहारगोचरश्च । लौकिको

यः शब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते। स च विधिनिषेधादिरूपैरनेकविधो वस्तु शब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः। यः पूर्वं क्वापि वाक्यालङ्कारभावमुपमादिरूपतयाऽन्वभूत् इदानीं त्वनलङ्काररूप एवाऽन्यत्र गुणीभावाऽभावादपूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्।

यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुदितप्राङ्निविष्टरत्यादिवासनानुरागासुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणव्यापाररसनीयरूपो रसः स च काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिः। स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयाऽऽत्मा।

एवं वस्त्वलङ्काररसरूपेण त्रिविध एव ध्वनिः संकलनेन। अतएव 'नियतिकृतनियमरहिताम्' इत्यादि काव्यप्रकाशमङ्गलपद्ये 'स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छच्छायायासितेन्दवः' इत्यादि ध्वन्यालोकप्रथमपद्ये वा भङ्ग्या त्रिविधध्वनिसत्ताऽपि सूचिता दिङ्मात्रं यथा—'नियतिकृतनियमरहिताम्' इत्यादिविशेषणैर्ब्रह्मनिर्मित्यापेक्षया कविनिर्मितेः गुणाधिक्यसूचनाद् व्यतिरेकोऽलंकारध्वनिः तेन च जयत्यर्थेन तदुत्कर्षप्रतीत्या 'तां प्रत्यस्मि प्रणतः' इति नमस्काररूपो वस्तुध्वनिः, अनयोरुभयोरपि ध्वन्योः पर्यवसाने ग्रन्थकृन्निष्ठकविभारती विषयकभावध्वनौ समावेशः। भावश्च रसरूपेणैव परिणमतीति रसध्वनिरिति व्यपदेष्टुं शक्यते। भक्तिरसवादिनां मते भक्तिरसध्वनिर्वा। सा च 'परानुरक्तिरीश्वरे' इति भक्तिसूत्रादुपास्यदेवताविषयकपरानुरागरूपा। ननु मङ्गलाचरणेऽस्मिन् व्यतिरेकवस्तुध्वन्योस्तु स्फुटमेव ज्ञानम्, रसविषये तु न किञ्चिदुक्तमितिचेन्नैष दोषः। रसस्य स्वशब्दवाच्यताविरहेण व्यङ्ग्यत्वेन निर्देशस्यैव औचित्यात्। अतएव मम्मटेन 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि' इति काव्यलक्षणे रसपदग्रहणं न कृतम्। न च लक्षणस्याऽव्याप्तिः शङ्कनीया—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥ इति॥

वक्ष्यमाणगुणलक्षणनुसन्धानात्तदविनाभावितया रसस्योपलम्भात्। अयञ्च ध्वनिरभिधा–लक्षणामूलतया प्रथमतो द्विशाखतया विभज्यमानक्रमेण विवक्षितान्य-

परवाच्य अविवक्षितवाच्यश्चेति संज्ञां लभते। विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि संलक्ष्याऽसंलक्ष्यक्रमत्वेन द्विभेदः। तत्र असंलक्ष्यक्रमस्य रसादिध्वनेरनन्तप्रकारस्यापि पद-पदांश-वाक्य-प्रबन्ध-वर्ण-रचनाव्यङ्ग्यत्वेन षड्विधत्वमूरीक्रियते। संलक्ष्यक्रमोऽपि शब्दार्थतदुभयशक्तिमूलतया त्रिप्रकारः। शब्दशक्तिमूलस्य वस्त्वलङ्कारव्यञ्जकत्वेन उभौ भेदौ। तयोरपि पदवाक्यगतत्वेन चत्वारो भेदाः। अर्थशक्तिमूलेऽपि व्यञ्जकस्यार्थस्य स्वतःसम्भवि-कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धतया त्रैविध्यात्तस्य च प्रत्येकं वस्त्वलङ्कारव्यञ्जकतायाश्चातुर्विध्याद् द्वादशभेदाः। ते च पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन त्रैविध्यात् षड्त्रिंशद्रूपतां भजन्ते। उभयशक्तिमूलस्तु वाक्यमात्रव्यङ्ग्यत्वेन एकविध एव। लक्षणामूलस्याऽविवक्षितवाच्यस्य अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन द्विप्रकारकस्य पद-वाक्यगतत्वेन परिगणनात् चातुर्विध्यम्, तदेवं ध्वनेः शुद्धस्य एकपञ्चाशद् भेदाः न केवलं प्रधानतया व्यज्यमान एवार्थश्चमत्कारहेतुः किन्तु गुणीभूतोऽपि काव्यमार्गस्य परां शोभामावहतीति ध्वनिकारोक्तिः श्रद्धेयैव—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥ इति ॥

'तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः'। इति तदुक्तिः—

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम्।
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ॥
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥

इत्युक्तदिशा अष्टविधोऽयं काव्यस्य प्रकारः।

यत्तु तृतीयं चित्रकाव्यमित्युच्यते तत्तु जीवितायमानप्रतीयमानार्थाभावात् तस्याऽपरामर्शाद् वा आलेख्यप्रख्यं चित्रपदाभिधेयं भवति। अथवा शब्दार्थचमत्कारमात्रसारत्वात् आपाततो विस्मयजनकमिति चित्रपदेन निर्देश्यम् रसभावावगाहिचित्तवृत्तिपरिपोषाभावाच्च तृतीयकोटिनिविष्टं तुच्छप्रायञ्चेति सहृदयैस्तदुच्यते।

यद्यपि तादृशशब्दार्थचमत्कारसारे काव्ये पर्यन्ततः किमपि व्यङ्ग्यमवश्यम्भवति परन्तु तस्य कविसंरम्भगोचरत्वाऽभावान्न जीवनाधायकत्वं अतएव साहित्यदर्पणकारादिभिस्तस्य काव्यकोटौ निवेश एव नाङ्गीकृतः।

यत्तु पण्डितराजो जगन्नाथः—अप्रधानस्यापि व्यङ्ग्यस्य क्वचिच्चमत्कारितामङ्गीकृत्य द्वितीयमुत्तमं नाम काव्यभेदं व्यवस्थापयति तदपि दुराग्रहमात्रमेव। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदानां नानाविधगुणीभावस्वीकारात् पृथक् काव्यभेदोत्पत्तिः अनवस्थापत्तिश्च स्यात्। अतो व्यङ्ग्यचमत्कारप्रयोजकतां लक्ष्यीकृत्य मम्मटादिनिर्णीता सरणिरेव शरणीकरणीया।

एवं दिङ्मात्रेण ध्वनिस्वरूपमुपस्थाप्य तदुदाहरणविषयेऽपि किञ्चिदुच्यते—यत्किञ्चिद् व्यङ्ग्यसत्वे न चमत्कारः किन्तु सहृदयहृदयाह्लादकव्यङ्ग्यानुभव एव उत्तमकाव्यव्यपदेशविषयता भवति, अतो 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ शैत्यपावनत्वादिसम्प्रत्ययेऽपि काव्यकोटिनिविष्टत्वं नास्ति। अलोकसामान्यप्रतिभावतां केषाञ्चिदेव कवीनां सहजसुकुमाररसनीयार्थाविर्भावसामर्थ्यं भवतीति कालिदासादिकृतिपरिशीलनेन सहृदयैरनुभूयत एव। एकमेव कालिदासपद्यमालोच्यताम्—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ इति॥

अत्र स्वप्रणयिन्याः परिचयं ददानो यक्षो दन्त-नेत्र-नाभ्यादिविशेषणैः सामुद्रिकसुलक्षणशालितां द्योतयति ततः स्वात्मनः कामशास्त्राभिज्ञतया तस्याः पद्मिनीत्वं ध्वनयति, ततश्च विशिष्टसौन्दर्यस्य प्रत्यायनं, तद्द्वारा च स्वकीयनिरतिशयप्रेमास्पदतां तन्मूलकतद्वियोगजनितामरुन्तुदव्यथां, तद्दुःसहताञ्च व्यञ्जयन् घण्टादिनादानुनादक्रमेण ध्वनिपरम्परामुपस्थापयति। चतुर्थपादस्थेन उत्प्रेक्षालङ्कारेण तदीयसौन्दर्यगतमद्वितीयत्वरूपं वस्तु व्यज्यते ततश्च लोकवैलक्षण्याद् व्यतिरेकालङ्कारप्रत्यायनं तदनुगामी स्वसौभाग्यरूपो वस्तुध्वनिः, तत्पृष्ठभावी विषादसञ्चारिभावध्वनिः। एवं महाकवीनां ध्वनिचमत्कारः सहृदयपरिषदा प्रमाणीकृतः प्रथते।

गुणीभूतव्यङ्ग्यमपि भवत्येव चमत्कारहेतुः प्रायेण विशिष्टेष्वलङ्कारेषु तन्मूलक एव प्रतिभाचमत्कारः। यथा—

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थः
तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा देव! कीर्तिः॥

अत्र राजस्तुतिप्रसङ्गे वाच्याऽपि निन्दा व्यज्यमानया स्तुत्या परिपुष्टा चमत्कारिणी। पर्यायोक्तविधया व्यङ्ग्यस्यैव प्रकारान्तरेणाऽभिधानम् इति ध्वन्यमानोऽर्थः पृष्ठतोऽपि निषण्णः सौन्दर्यमुद्रामुद्भावयितुं क्षमते। तदेवं सङ्क्षेपेण ध्वनिविवेचनं परिसमाप्य पुरतो रसविषये किञ्चिदावेदयितुमुपक्रम्यते यद्यपि ध्वनिविषये विमतिमुद्भावयतां सन्ति बहवः पक्षास्तत्समाधानानि च भूयांसि परं तद्विवेचनं प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या सुदीर्घतमं स्यादिति सङ्क्षेपेणैव प्रस्थीयते।

अथ कोऽयं रसो यद्वशान्महाकवीनामविनश्वरं सिद्धं यशःशरीरं विश्वम्भराऽऽभरणीभूय जागर्ति?। 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्' इति यद्विषये जीवितवादो वाग्वैभवस्य?

नीरसस्तु प्रबन्धोऽयं सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाऽकविरेव स्यादन्येनाऽस्मृतलक्षणः॥

इति यद्व्यतिरेके कवेः अकवित्वकलङ्कपातः? अत्र भगवतो भरतस्य मुनेः सूत्रमेव प्रथममासूचकं रसस्य यथा—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति। तत्र रसो ध्वनिरित्येकमेव तत्वम्। ध्वनेः पर्यवसानं रसास्वादनप्रक्रियायामेव। वस्त्वलङ्कारभावादिक्रमेण प्रवर्तमाना प्रतीयमानार्थपरम्परा न तावच्चारितार्थ्यं लभते यावद् रससागरं नानुप्रविशति।

सत्यपि गुणालङ्कारसम्भारकृतचारुत्वे प्रबन्धस्तावन्न प्रबन्धराजायते यावत्तस्य रसकलशैरभिषेको न स्यात् यथोक्तं मङ्खकेन कविना—

तैस्तैरलङ्कृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।

नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः ॥

रसस्य द्विविधः काव्यमार्गे तावदुपयोगः—सुकुमारमतीनां शास्त्रान्तरश्रमापहारेण सरलतया चतुर्विधपुरुषार्थपाटवोत्पादनं, विदग्धानां सहृदयानां सद्यः परमानन्दोपलब्धिश्च । अतएव 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यादिकारिकायां मम्मटेन 'व्यवहारविदे' इति 'सद्यः परनिर्वृतये' इति च प्रतिपादितम्, यथोक्तं रुद्रटेन—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥
तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवाऽन्यथा भवति ॥

एतदेव कान्तासम्मितोपदेशविधिना निरूपितं मम्मटेन । किञ्च शास्त्रेषु दुर्ग्रहतया गभीरतया च प्रतिभासमानो विषयः कविसूक्तिचमत्कारेण सरसीकृतः सुतरां स्वदते । यथा—

शास्त्रेषु दुर्ग्रहोऽप्यर्थः स्वदते कविसूक्तिषु ।
दृश्यं करगतं रत्नं दारुणं फणिमूर्धनि ॥

इत्युक्तं नीलकण्ठकविना । अत्र प्रसङ्गात् किमप्युदाहरणमालोक्यताम्—उपनिषन्मात्रवेद्यस्य परमपुरुषस्य शास्त्रैकवेद्यत्वेऽपि कविः स्वकल्पनया काननान्तरालगहनवृक्षशाखानिलीनकपिरूपेण विषयं सरसतया परिणमय्य अनुभावयति यथा—

विषमनिगमकाननान्तशाखाततिषु निलीय पराग्निरीक्षमाणः ।
परिणतिविदलज्जगत्कपित्थग्रसनकपे ! सुचिरान्निरूपितोऽसि ॥

अत्र अतिगभीरोऽपि विषयः सहजतया कपिवर्णनव्याजेन मध्ये हास्यरसं निवेशयता मतिमता कविना दार्शनिकप्रवरेण गोकुलनाथोपाध्यायेन पर्यन्ते भक्तिरसावगाहितया व्यवस्थापितः । एवं रसवत्तैव कवीनां सफलताया निकषः । तत्र भरतसूत्रव्याख्यातारो बहवः प्राधान्येन मम्मटोक्ताश्चत्वारः पक्षाः सङ्क्षेपेण निर्दिश्यन्ते ।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे 'संयोगात्' इति पञ्चम्यन्तं पदहेतुसूचकम् हेतुश्च द्विविधः कारको ज्ञापकश्च । तत्र कारकहेतुवादिनो लोल्लटादयः, ज्ञापकहेतोरपि ज्ञानभेदात् त्रैविध्यम् । तद्विषयकानुमितिजनकज्ञान-रूपेण, तद्विषयकमुक्तिरूपज्ञानजनकत्वेन, तद्विषयकाऽभिव्यक्तिरूपज्ञानजनकत्वेन च ।

क्रमशश्चैते पक्षाः श्रीशङ्कुक-भट्टनायक-अभिनवगुप्तपादाचार्याणाम् लोल्लटादी-नामयमाशयः—स्थायिनां रत्यादीनां विभावेन सह जन्यजनकभावः, उद्दीप्य-उद्दीपकभावः, अनुभावेन ज्ञाप्यज्ञापकभावः, व्यभिचारिभिः पोष्यपोषकभावः सम्बन्धः । निष्पत्तिस्तु क्रमेण उत्पत्तिः, अभिव्यक्तिः, तुष्टिश्च । तथाहि ललनादि-भिरालम्बनैर्जनितः, उद्दीपनविभावैश्चन्द्रोदयादिभिरुद्दीपितः, कटाक्षादिभिरनुभावैः प्रतीतियोग्यः कृतः, निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभिः पोषितो रामादावनुकार्ये स्थितो रत्यादिरूपो रसः । स तुल्यरूपत्वान्नटे आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः इति ।

एतन्मतं मीमांसकानाम् । ते हि यागादौ इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः' इत्याद्यारोपवत् अनुकर्तरि नटादौ रामादेरारोपः, स च शिक्षाभ्यासादिबलात् चम-त्करोति सामाजिकानिति वर्णयन्ति । एतन्मते बहुविधं गौरवम् प्रथमस्तावत् विभावादीनां पृथक् सम्बन्धविचारे सम्बन्धत्रयकल्पना गौरवम् । रसस्य स्थिति-र्मुख्यतया कथाश्रये रामादौ चेत् तस्य कालकृतव्यवधानादिदानीन्तने सामाजिके कथं तन्निष्पत्तिः । रामादिपुरुषविशेषमात्रगोचरत्वे रसस्य लौकिकत्वापत्तिः । रसस्याऽलौकिकत्वात् ।

श्रीशङ्कुकादयस्तु—विभावादिभिः सह स्थायिनः संयोगाद् व्याप्यव्यापक-भावरूपात् सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्याहुः । एतन्मते सम्यङ्-मिथ्या-संशय-सादृश्य-रूपाभ्यो लोकप्रसिद्धाभ्यो विलक्षणया चित्रे तुरगोऽयमितिवद् 'रामो-ऽय'-मितिबुद्ध्या प्रथमं पक्षभूतो नटो विषयीक्रियते, तेन अभ्यासातिशयवशाद् रोमा-ञ्चादिप्रदर्शने रतिव्याप्यत्वं गृहीतवतां सामाजिकानां रत्याद्यनुमितिः । रोमा-ञ्चादीनां कृत्रिमत्वेनाऽज्ञानात् । न च नटे रत्यभावाद्बाधः रत्यभावनिश्चयाऽ-भावात् । न च अनुमित्या चमत्कारो न स्यात्, साक्षात्कारस्यैव चमत्कारत्वादिति-

वाच्यम्। विषयसौन्दर्यस्यैव तन्नियामकत्वात्। घटादिसाक्षात्कारस्याऽचमत्कारित्वाद् रत्यादिसाक्षात्कारस्य चमत्कारित्वस्य स्वानुभवासिद्धत्वाच्च।

एतन्मतेऽपि कानिचिद् दूषणानि सन्ति। यथा—नटादौ अविद्यमानस्य रत्यादेः कथमास्वादनम्। तत्राऽसन्नपि भावः सामाजिकैरास्वाद्यत इत्युक्तम्। एतन्मते रसाधिकरणं किमिति ज्ञातुं न कश्चिदुपायः नानुकार्ये, नाप्यनुकर्तरि, न च सामाजिके रसः। एतदभिप्रायेण साहित्यचूडामणिटीकायामुच्यते 'इत्थञ्च रसस्य न क्वचिन्नियमेनाऽवस्थानं यावदस्य सर्वतोमुखस्फुरत्ताकस्य ताटस्थ्यमेव पक्षः किमधिकरणगवेषणया' इति। किञ्च आस्वादकाले 'रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् तद्विषयकविरहाऽऽलापादिकर्तृत्वात्' इत्याद्यनुमितिरूपा बुद्धिः समुदेति इति न कस्याऽप्यनुभवः विगलितवेद्यान्तरतयैवाऽनुभवात् एतन्मतं तार्किकाणाम्।

भट्टनायकस्तु—स्थायिनो विभावादीनाञ्च भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिर्भोग इति सूत्रार्थः। तथाहि काव्यस्य त्रयो व्यापाराः—अभिधा भावकत्वं भोगकर्तृत्वञ्च। अभिधा द्विविधा —निरन्तरार्थनिष्ठा, सान्तरार्थनिष्ठा च। आद्याशक्तिरेव, द्वितीया च लक्षणा। अभिधाभिन्नं व्यापारद्वयं नाट्येऽपि। काव्येऽभिधया पदार्थोपस्थितिः। नाट्ये तु अभिनयेनेति विशेषः। तथोक्तरीत्या पदार्थोपस्थितिः। द्वितीयेन भावकत्वाख्यव्यापारेण सीतादीनां कान्तात्वादिरूपेण अवस्थानम्। अभिधाजन्यायाः सीतात्वादिप्रकारोपस्थिते रसाननुगुणत्वात् आराध्यत्वज्ञानस्य तद्विरोधित्वाच्च एवं साधारणीकरणेन भावकत्वनिवृत्तौ तृतीयस्य भोगकर्तृत्वव्यापारस्य प्रभावात् रजस्तमसोरभिभवे सत्वोद्रेके च प्रकाशमाना आनन्दमयी या संवित् तत्र विगलितवेद्यान्तरत्वेन स्थितिरूपा या विश्रान्तिस्तत्स्वरूपेण साक्षात्कारेण विषयीक्रियमाणो रत्यादिः स्थायीभावो रसः स्थायिनो भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृतत्वात् सत्वादीनां त्रयाणामुद्रेके सुखदुःखमोहाः क्रमात् प्रकाशन्ते। उद्रेकश्च स्वेतरद्वयाऽभिभवः इति साङ्ख्यसिद्धान्तानुसारं व्याख्यातवान्।

अत्रापि काचिदरुचिः—तथाहि भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानेषु विभावादिषु समुदीर्णे तदास्वादे कुतो व्यापारान्तरोपलब्धिः?। एकेनैव व्यापारेण कार्यसिद्धेः स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। अन्यच्च सत्वोद्रेकादिविशिष्टतथाविधाऽनुभवकल्पने किञ्चित् प्रमाणं नास्ति। बीभत्सरौद्रादीनां रसत्वे च का व्यवस्था स्यादिति मतभेदं तदपि न

विचारसहम् । एवम्पूर्वमतान्यालोच्य श्रीमद्भिरभिनव गुप्तपादाचार्यैर्व्यञ्जना-व्यापारविधया रससवरूपनिष्पत्तिरुपपाद्यते । तद्यथा—

लोके कटाक्षादौ रतिव्याप्यत्वज्ञानवतां सामाजिकानामन्तःकरणे वासनारूपतया रत्यादिः प्रत्यवतिष्ठते स स्थायी । लोके रत्यादिकारणानि प्रमदादीनि, तत् कार्याणि कटाक्षादीनि, निर्वेदादीनि च सहकारीणि । तेषामेव काव्यादौ क्रमेण विभावानुभावव्यभिचारिशब्दैर्व्यवहारः । न चैवं नामभेदमात्रमकिञ्चित्करमिति वाच्यम् । विभावन-अनुभावन-सञ्चारणव्यापारभेदस्वीकारात् । तेषाञ्च ईषत्स्फुट स्फुट-स्फुटतरप्रकाशरूपत्वात् । यदुक्तम्—

विभावा अनुभावाश्च तथैव व्यभिचारिणः ।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ॥

लोके सम्बन्धिविशेषीयत्वेन गृह्यमाणे कान्तादौ कटाक्षादिलिङ्गकरत्यनुमितौ न चमत्कारः, काव्यादौ वाक्यार्थबोधान्तरं चमत्कारविशेष इत्यनुभवसिद्धत्वात् । एतेन शकुन्तलादीनां सामाजिकैरसम्बन्धात् कथं तेभ्यो रसोद्बोध इति निरस्तम् । काव्यादौ तेषां साधारणीकरणमिति स्वीकारात् । 'त एव परिहृतविशेषा रसहेतवः' इति सूत्रकारोक्तिश्च । एवं हि स्थायिनोऽपि तद्बोध्यम् । प्रमातृविशेषनिष्ठत्वेन प्रतीयमानस्वरूपपरिमितत्वे रसस्वरूपानुपपत्तिः । स्वगतत्वेन रसादिप्रतीतौ सभ्यानां व्रीडाभयाद्यापत्तेः । परगतत्वेन अनास्वाद्यत्वप्रसंगः । अतः साधारणीकरणव्यापारस्वीकारेणैव सर्वदोषपरिहारः शक्यः ।

एवञ्च सति विभावादिभिः स्थायिनि अभिव्यज्यमाने चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मा भासते । वेदान्तिमते ज्ञानमात्रे तद्भानस्वीकारात् । न च घटादिज्ञानेऽप्यानन्दोद्बोधापत्तिरिति वाच्यम् । तत्र आनन्दांशे आवरणभङ्गाभावात् । अत्र सहृदयविशेषस्यैव तद्भङ्गहेतुत्वात् । तथा च रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमावरणभङ्गादानन्दरूपतया प्रकाशमानं रसपदार्थः । विभावादिचर्वणाया रसव्यञ्जकत्वात् तन्निष्ठयोः आवरणभङ्गनिष्ठयोर्वा उत्पत्तिविनाशयोः आरोपात् रस उत्पन्नो रसो नष्ट इत्यादि व्यवहारः । चैतन्यस्याऽऽत्मरूपतया उत्पत्तिविनाशाऽनर्हत्वात् चर्वणानिवृत्तौ च प्रकाशस्य आवृतत्वात् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते । अत एवोक्तं काव्यप्रकाशे—

'विभावादिजीवितावधिः' इति । चर्वणा तु आवरणभङ्गः रत्याद्याकारान्तःकरण-वृत्तिविशेषो वा । चर्वणा च पानकरसन्यायेन—

यथोक्तम्—प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।

स चाऽयं रसो न कार्यः विभावादिज्ञाननाशेऽपि रसानुभवप्रसङ्गात् । निमित्तनाशे कार्यनाशस्याऽनङ्गीकारात् । रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव रसत्वात् चैतन्यस्य कार्यत्वशङ्कातङ्कराहित्यात् । नाऽपि ज्ञाप्योऽयं रसः विभावादिजन्याभिव्यक्तिविशिष्टरसादेरेव सत्वात् । तस्य च विभावादिव्यक्तिपूर्वमसमत्वात् । पूर्वसत एव घटादेः पदार्थस्य आलोकादिनाऽभिव्यक्तिदर्शनात् ।

तद्ग्राहकं न निर्विकल्पं विभावादिपरामर्शस्य तद्विषयकनिर्विकल्पकज्ञानजननाऽयोग्यत्वात् । निर्विकल्पकस्य जन्यज्ञानाऽजन्यत्वनियमात् । नाऽपि तद्ग्राहकं सविकल्पकं विभावादिसमूहालम्बनस्य रसत्वात्तेषां सम्बन्धग्रहाभावात् । इदञ्च युक्तयोगिज्ञानाद् विलक्षणं तस्य सन्मात्रविषयकत्वात् अस्य च गुणालङ्काराद्यधिकविषयत्वात् । युञ्जानयोगिज्ञानादपि तथा तस्य भेदावगाहित्वात् । लौकिकरत्यादिज्ञानादपि भिन्नमेव अस्य गुणालङ्काराद्युपस्कृतशब्दार्थसंवेदनविषयत्वात् । ननु उभयग्राह्यत्वनिषेधे ग्राह्यत्वमेव न स्यात् उतापि न वाच्यम् । अस्या अभिव्यक्ते लोकोत्तरत्वात् सकलसहृदय-हृदयानुभवप्रमाणकत्वाच्च । यदुक्तम्—

"तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्"

अत्र रसगङ्गाधरकारः—'इत्थञ्च अभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रस इति स्थितम् । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः । सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वञ्च सिद्धम् । रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वञ्च ।' इति यदूचिवान् तत् वेदान्तमताभिनिवेशेन । अभिनवगुप्तपादाचार्यास्तु शिवाद्वैतसिद्धान्तानुसारिणः 'चैतन्यम् त्मा' इति शिवसूत्रानुसारेण रत्याद्यंशेऽपि चिद्रूपतमङ्गीकुर्वन्तीति प्रतिभाति । यतस्तन्मते

जडो नाम कश्चिन्नास्त्येव पदार्थः साधारणीकरणव्यापारमहिम्नाऽपरिच्छिन्नस्य आनन्दमयस्वरूपस्यैवोपलब्धिः सा च पूर्णाऽहंभावरूपा । अपूर्णतैव क्लेशहेतुः । यदुक्तम्—

पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते ।

एतदभिप्रायेणैव—काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

इति श्लोकव्याख्याने तैरेवं प्रतिपाद्यते—'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्य्यध्वंसनेन उत्थितो यः शोकः स्थायीभावो निरपेक्षभावत्वात् विप्रलम्भशृङ्गारोचितस्थायिभावादन्य एव । स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नो रसः परिपूर्णकुम्भोच्छलनवत् चित्तवृत्तिनिस्पन्दवाग्विलापादिसमयानपेक्षित्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यंजकत्वादिनयेनाऽकृतकतयैव आवेशवशात्समुचितछन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः 'मा निषादेत्यादि' न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत्' इति ।

न च प्रतिकूलवेदनीयतया दुःखरूपत्वात्करुणादीनां रसानां न रसत्वमित्याशङ्कनीयं सुखमयत्वस्य सहृदयहृदयानुभवसाक्षिकत्वात् । एवमेव बीभत्सभयानकादिष्वप्युपपत्तिः । लोके जुगुप्स्यभयजनकवस्तुषु स्वारसिकी प्रवृत्तिर्न भवति काव्यनाट्योपस्थापितेषु कविकौशलाद् विभावत्वाद्यापन्नेषु तेषु साभिनिवेशं प्रवृत्तिर्भवत्येवेति फलबलात्सर्वेषां रसानां सुखमयत्वस्वीकारे न कोऽपि प्रतिबन्धः । स्तम्भकम्पाश्रुपातादीनां तत्तच्चित्तवृत्तिप्रयोज्यतया शृङ्गारादिवत् करुणभयानकादिष्वपि स्थितिर्न विरुद्धा ।

अत्रेदमवधेयम्—लौकिकाः शोकहर्षादयो लोके स्वानुगुणमेव कार्यं जनयन्तीति प्रसिद्धम् । परं काव्यव्यवहारे कविप्रतिभादर्पणे प्रतिबिम्बिताः सर्वेऽपि भावाः सुखमेव जनयन्ति कविप्रतिभायाः सुखजनकताया धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वात् । इदमस्माभिः पारमार्थिकादिविलक्षणं किमपि प्रातिबिम्बिकं सत्यमिति व्यपदेष्टुं शक्यम् । यदुक्तम्-

कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः ।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाऽध्यक्षतः किल ।

एतदभिप्रायेण महार्थमञ्जर्यां महेश्वरानन्देन—

हन्त मुखं प्रतिबिम्बतु प्रतिबिम्बयतु तथा तदपि दर्पणः ।
दर्पणः पुनर्यस्मिन् प्रतिबिम्बति सोऽपि ज्ञातव्यः ॥

इति स्वकारिकाव्याख्यायां परमेश्वरस्वातन्त्र्यलक्षणं प्रतिबिम्बवादं विवृण्वता एवं प्रतिपाद्यते—'तेन च सर्वोऽयमादर्शाननाद्युपलक्षितः स्तम्भकुम्भादिर्वेद्यविस्तारो मालिन्यकक्ष्यानुप्रवेशितान्यपदार्थवैमल्ये स्वच्छत्वोत्कर्षशालिनि स्वस्वभावाऽविभिन्न-परमेश्वरात्मके महति मुकुरमण्डले तन्मयत्वपर्यायया प्रतिबिम्बनयुक्त्या परिस्फुरतीति तात्पर्यार्थः' इति । एवमग्रेऽपि—एवञ्च बाह्येषु दर्पणादिषु बिम्बसव्यपेक्षः प्रतिबिम्बोपलम्भः स्वात्मरूपे पुनरेतद्वैपरीत्यम् । अशेषस्यापि विश्ववैचित्र्यस्य प्रतिबिम्बतयाऽनुभूयमानत्वात् । एतच्च परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिविजृम्भितवशादुपपद्यते एतदेव तत्त्वं श्रीशङ्करभगवत्पादैरपि 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं, पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया'। इत्याद्युक्तिभिर्दक्षिणामूर्तिस्तवे निरूपितम् । एतावता रसास्वादनिष्कर्षः निरवच्छिन्नसच्चिदानन्दमूर्तेः परमेश्वरस्य स्वात्माभेदेनाऽनुभव एवेति कथने न काप्यतिशयोक्तिः । अत एवोच्यते—

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्' । इति'

इत्थमाचार्याभिनवगुप्तपादानां सरण्या दिङ्मात्रेण रसो वर्णितः । रसगङ्गाधरादिप्रबन्धेषु रसविषये कानिचिदन्यान्यपि मतान्युपलभ्यन्ते । तत्र दिङ्मात्रेण किञ्चिदुपस्थाप्यते—

केचननव्याः-'काव्यनाट्ययोः प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनाव्यापारेण तत्तद्प्रतिमत्ताज्ञानं ततश्च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनोयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्याहुः । एतन्मते व्यञ्जनाव्यापारो दोषविशेषः अनिर्वचनीयख्यातिश्चेति पदार्थत्रयम् । एतदपि विचार्यमाणं सिद्धान्तदृष्ट्या गौरवग्रस्तमेव व्यञ्जनाव्यापारस्यैव सकलभरसहत्वात् । परे तु केचन प्रागुक्तदोषमहिम्ना सर्वोऽपि रसास्वादप्रकारः पर्यवस्यतीति प्रतिपादयन्ति ।

एतदपि विचारकक्षां नाऽधिरोहति। तथाहि रसविषयकानुभवस्य दोषरूपतायां तस्योत्तरज्ञाननाश्यत्वप्रसङ्गः स च नास्ति। न च कश्चित्सहृदयो 'भ्रान्तोऽहमभूव' मिति प्रतिपद्यते। पौनःपुन्येन रमणीयकाव्यपरिशीलनप्रवृत्तिश्च व्याहन्येत। केचित्तु एकैकस्माद् विभावादे रसानुभव इति व्याचक्षते तदपि न समीचीनं सम्मिलितानामेवाऽऽस्वादजनकतायाः सूत्रे मुनिना स्वीकृतत्वात्। अत्र रसप्रदीपकारस्यैता निष्कृष्टार्थसूचिका कारिकाः परिशीलनीयाः—

अलौकिकः परब्रह्मसंवेदनसहोदरः।
रसोऽयमिह संवित्तेरन्यन्मानमपार्थकम्॥
वस्तुतस्तु न रत्यादी रसत्वं कारणादि च।
विभावत्वादितामेति किन्तु तन्मयभावतः॥
सामाजिकानां जायन्ते ये तदाकारसुन्दराः।
चित्तवृत्तिविशेषास्ते विभावत्वाद्यलौकिकम्॥
रूपं भजन्ते तदनु सकलाकारसुन्दराः।
एका विलक्षणा चित्तवृत्तिर्या जायते सताम्॥
रसनात्मा रसः सैव शङ्काशूकनिवारिता।
इति ब्रूमो वयं त्वत्र तदिदं मत्सरं विना।
विचारणीयं रसिकैरिति सर्वं समञ्जसम्॥ इति॥

तदेवं निरूपितस्य काव्यजीवातुभूतस्य रसस्यापि भावानां भेदमुपकल्प्य विविधान् रसभेदान् उदाहरन्ति ग्रन्थकाराः। केचित्तु तत्तद्विशिष्टैकरसप्राधान्यवादिनोऽपि व्यवतिष्ठन्ते।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

इति प्रसिद्धैव कारिका। शान्तोऽपि नवमो रसः केवलं काव्येष्वेव न पुनर्नाट्ये सम्भवति सर्वावस्थाविरामरूपस्य तस्याऽभिनेतुमशक्यत्वादिति केचित्—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

इति तेषां सरणिः । तदपरे न क्षमन्ते—यतः शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः रत्यादेरपि नटे असत्वात् स्थायिभावस्य सामाजिकनिष्ठत्वात् । रत्यादिवत् शमस्य निर्वेदस्य वा स्थितिरुपकल्पनीया । अवस्थानुकृतिरूपे नाट्ये रत्याद्यनुभाववत् शमानुभावानामप्यभिनये नाऽस्ति किमपि बाधकम् । वयन्तु ब्रूमः—सर्वावस्थाविरामरूपः शमस्तु परमयोगिमात्रनिष्ठस्तस्य नाऽत्रावसरः । इह कविसंसारे विषयेभ्यो व्यावर्तमानस्य पुरुषस्य लग्नाऽलग्नप्रायश्चित्तवृत्तेर्यो भावः स एव निर्वेदपदाभिधेयो भवति । अत एव 'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा' इति सुप्रसिद्धे तदुदाहरणे व्यावर्त्यानां विषयाणामेवाऽऽलम्बनरूपता दृश्यते, एवमेव गुरूपदेश-सत्कथा-तीर्थाटनप्रभृतीनां विषयविशेषाणां तत्र यथोचितमुपयोगादास्वादजनकत्वमस्त्येव तस्मान्नाट्येऽपि शान्तरसस्थितिर्न विरुद्धा यदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः ॥

केचित्तु सर्वरसोद्भावकतया शान्तस्य प्रधानरसत्वमातिष्ठन्ते । यथा —

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः ।
पुनर्निमित्तापाये तु तत्रैव प्रविलीयते ॥

भोजराजः शृङ्गारप्रकाशे—'वयन्तु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः' । इति सर्वजनसंवेद्यतया रागतत्वस्य प्राधान्याच्च शृङ्गारैकरसप्राधान्यवादं व्यवस्थापयति ।

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाऽऽह कृती नारायणो रसम् ।

इति साहित्यदर्पणे नारायणस्य मतमालोक्यते । चमत्कारो नवोन्मेषशालिः प्रतिभाधर्मः स एव काव्ये रसरूपतया गृह्यते । एवं चमत्कारचन्द्रिकाकारप्रभृतयोऽप्याहुः केचन वत्सलरसं पुत्राद्यालम्बनमूचुः । यथा—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ इति ॥

भवभूतेः प्रसिद्ध एव श्लोकः—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥

करुणस्यैव विवर्तभूता अन्ये रसाः मूलभूतस्त्वेकोऽयमेवेति तस्यायमभिप्रायो रामायणोद्गममूलभूतस्य वाल्मीकेः 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' इत्यादि पद्यप्रणयनव्यापारस्याऽनुगामी । एवं भक्तिरसेऽपि मधुसूदनसरस्वतीप्रभृतीनामन्येषामाचार्याणां महान् प्रयासो रसत्वव्यवस्थायै दृश्यते । अभिनवगुप्तपादप्रभृतयस्तु परमास्तिका रसं पृथङ्नाङ्गीकुर्वन्ति । तत्रेदं तत्वं प्रतिभाति—लौकिकेभ्य एव कारणादिभ्यः काव्यव्यापाराद् विभावाद्यवस्थां प्रतिपन्नेभ्यो रसानुकूलचित्तवृत्तेरुद्गम इति सिद्धान्तः भक्तिरसे तु आलम्बनमेव अलौकिकमिति रसलक्षणे तन्निवेशो न भवतीति तेषामभिप्रायः । यत्तु अप्राकृतो भक्तिरसः, प्राकृतास्तु शृङ्गारादयस्तदङ्गभूता इति केषाञ्चिद्दर्शनं तदतीव शङ्काकलङ्कसङ्कुचितम् यतो रसत्वे प्राकृताऽप्राकृतविभाग एव न सम्भवति तस्य परमानन्दघनस्वभावतया विगलितवेद्यान्तरतया सङ्कोचानर्हत्वात् । अत एवेयमुक्तिरपि प्रसिद्धा पर्यालोचनीया—

वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरशास्त्रविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥ इति ॥

रसदर्शनेऽस्मिन् भरतमुनेरेव वचनस्य मान्यतया तदुक्तदिशैव रससङ्ख्या साधीयसीति प्राचामाचार्याणां व्यवस्था । इत्थं सङ्क्षेपेण यथामति विचारितो

रसस्य मार्गः। इदानीं उदाहरणदिशा किञ्चिदालोच्य विषयोऽयमुपसंहरिष्यते। कुमारसम्भवे कविकुलगुरोः शिवपार्वत्योः परस्परालोकनप्रसङ्गे काव्यचमत्कारः समास्वाद्यताम्—

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥
विवृण्वती शैलसुताऽपि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥

अत्र भगवतोः प्रथमप्रणयप्रसङ्गः कमनीयशब्दार्थसमर्पितविभावाद्यभिव्यक्तरसनिस्यन्दः सहृदयैरनुभूयते। अम्बुराशिरिव निःसीममाहात्म्यस्याऽपि भगवतो हृदि पूर्णेन्दोरिव प्रणयबिम्बस्य समुदये क्षोभः साहजिकतया निरूपितः कविना। उमामुखविशेषणबलात् स्पृहणीयत्वाऽभिव्यक्त्या लोचनत्रयस्याऽपि व्यापारितत्वोक्त्या च बलवदनुरागोद्भेदः सूचितः। यद्यपि विलोचनव्यपारणं परिचुम्बनाभिलाषो वेति एकतरनिर्णयाभावात् सन्दिग्धप्राधान्यं व्यङ्ग्यमत्राऽऽमनन्ति केचित् परमनुरागोत्कर्षाऽभिव्यक्त्या तदास्वादो न हीयते।

एवमेव कदम्बमुकुलन्यायाद्रोमाञ्चिताङ्गी विनमितविलोचना साचीकृतवदनारविन्दा पार्वती स्वान्तस्थमनुरागमभिव्यञ्जयन्ती समुल्लिखिता कविना चारुतरेण इति मुखविशेषणात् साचीकरणेऽपि हर्षाद्यभिव्यञ्जकत्वं मुखस्य प्रतीयते। एवमत्र परस्परालम्बनो रतिस्थायिभावः समुचितविभावादिसामग्रीलब्धपरिपोषः सद्यः सुधियां समास्वाद्यतामभ्युपैति। अलङ्कारकल्पनाऽपि सुतरां रसानुसारिणी तत्परिपोषायैव प्रकल्पते। पर्यन्ते मामकमेकं चन्द्रान्योक्तिपदं भगवते निवेदयन् विरमामि—

शापक्षीणकलेवरोऽपि कुटिलाकारोऽपि मारोद्यमं
कुर्वाणोऽपि कलङ्कमङ्कमिलितं नित्यं दधानोऽपि यत्!
मूर्ध्नि स्वे निहितोऽसि विश्वगुरुणा त्वं कर्मणां साक्षिणा
शीतांशो! कथय त्वया तदतुलं किं नाम तप्तं तपः॥

●

कालिदासकृतिषु मन्त्रविद्या:

महाकवेः सरस्वतीपुरुषावतारस्य कालिदासस्य काव्यनाटकादिविरचनाः सर्वाङ्गीणं भारतीयपरम्परास्वरूपं प्रकाशयन्तीत्यत्र न कस्यापि प्रेक्षावतो लेशतोऽपि विसंवादः सञ्जायते ।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

इति प्राचीनोक्तिदिशा प्रायः सर्वाण्यपि वस्तूनि कविकुलगुरुवचसा सुरभीकृतानि समनुभूयन्ते ।

कालिदासीयवाङ्मयस्य सौन्दर्यरसवत्तादिविषयमधिकृत्य शतशः सहस्रशः प्रबन्धाः सहृदयैर्विरचिता विरच्यन्ते च । सम्प्रति कश्चन तद्वचनागतमुपेक्षितप्रायं विषयं कथञ्चित् स्पृष्टाऽस्पृष्टिकया विवरीतुं क्रियते यत्नः । विषयस्यास्य परम्पराविच्छेदादुपेक्षावशाच्च ज्ञानं विलुप्तप्रायमनुभूयते ।

वैदिक्या परम्परया सहैव तान्त्रिकी धाराऽपि भारतवर्षस्यास्य निधानभूताभूतकालादद्यावधि प्रचलन्ती दृश्यते । परमस्याः अध्ययनादीनामल्पत्वात् गूढतमत्वादधिकारिवैरल्याच्च साम्प्रतं न तथा प्रसिद्धिः ।

महाकविना कालिदासेन यथास्थानं मन्त्रादीनां उल्लेखो विहितः तेषां प्रतिपादकाः ग्रन्थाः साम्प्रतमप्युपलभ्यन्ते । तेषां के वांऽशाः कुत्र वा सङ्गता इत्यादि विद्वद्भिः सहैवान्यैर्विषयैर्विचारणीया इत्येतावन्मात्रं सूचयितुं कश्चिदयमुपक्रमोऽस्माकम् । रघुवंशे प्रथमतो वेदानां मन्त्राणाञ्च मूलभूतस्य प्रणवस्य परिचयः 'प्रणवश्छन्दसामिव' इत्यभिदधता कविना प्रदत्तः । प्रणवो हि वेदेष्विव तन्त्रेष्वपि तत्तद्देवता बीजादिरूपेण परिगृहीत इति न तिरोहितं तद्विदाम् ।

अथर्ववेदस्तावत् ऐहिकामुष्मिकोभयफलदायक इति तद्भूमिकायां सायणादिभिः सुष्ठुतरं प्रत्यपादि । रघूणां कुलगुरुर्वसिष्ठः निधिरथर्वमन्त्राणां तस्य तपोबलादेव दैवमानुषीणामापदां विनिवृत्तिः शक्याभूदिति प्रथमसर्गादुपलभ्यते । यथा—

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तष्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणाञ्च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥
तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥

एतावता अथर्ववेदसम्बद्धानां आङ्गिरसकल्पादोनां प्रत्यङ्गिरासूक्तादिमन्त्राणां परिज्ञानम्महाकवेरिति ज्ञायते ।

'भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः' इत्येतेन सर्पनिग्रहमन्त्राणां परिचयः सूच्यते । गुरोर्वशिष्ठस्य मन्त्रपूतजलस्पर्शाद्रघो रथस्य सर्वत्र अप्रतिहता गतिरजायत । यथोक्तम्—

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात् प्रभावात्,
उदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य,
गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ॥

क एते मन्त्रा कुत्रत्या वा इति न ज्ञायन्ते ।

अजस्य बाणेन विद्धः शापवशात् गजरूपधरो गन्धर्वः प्रियंवदो नाम पुनः स्वरूपमास्थाय तस्म संमोहनं नाम मन्त्रमयमस्त्रं प्रादात् । तच्च ततः सविधि जग्राह सोऽपीत्युक्तम् यथा—

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥

इदमेव संमोहनं नामास्त्रं नृपैः सह युद्धे प्रवृत्ते प्रयुक्तवानजः ।

अस्यैव संमोहनास्त्रस्य प्रयोगः कुमारसम्भवे–कामेन विहितो भगवन्तं शिवं वशीकर्तुम् । यथा—

"संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥

तन्त्रेषु पञ्चकामास्तेषां पञ्चबाणाश्च सबीजाः पठ्यन्ते । मन्ये तत्रत्य एवायं सम्मोहनबाणस्य प्रयोगो भवेत् । प्रसिद्धश्चायं श्लोकः —

"उन्मादनस्तापनश्च शोषणःस्तम्भनस्तथा ।
संमोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥

रघुवंशस्यैकादशे सर्गे महर्षिणा विश्वामित्रेण स्वाश्रमं प्रति नीयमानयोः कुमारयो रामलक्ष्मणयोर्बलातिबलायविद्ययोः प्रभावात् स्वल्पोऽपि मार्गक्लेशो नाभवदित्युक्तं कविना—

"तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥

एते विद्ये बलातिबलाख्ये कुत्रत्ये ? इति जिज्ञासायामिदं परिज्ञायते— प्रपञ्चसारसंग्रहाख्यग्रन्थात् । बलातिबलाख्या विद्या वश्याकर्षणादिप्रभावप्रदा अश्वारूढा नाम देवता तन्मन्त्रविधानादिकमपि तत्रैव सम्यङ्क निरूपितम् ।

भगवतो विश्वामित्रस्यानुग्रहादेव नैर्ऋतघ्नमस्त्रं प्राप्तवान् रामः तदपि मन्त्रविशेषात्मकमासीत् । यथा—

"नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात् सूर्यकान्त इव ताटकान्तकः ॥

एते मन्त्रा रक्षोघ्नसूक्तरूपा वैदिकस्तन्त्रोक्ता वा केचिद्भवेयुः । लवणासुरं शमयितुं शत्रुघ्नः किमप्यैन्द्रमस्त्रं प्रायुङ्क्त । येन स दैत्यः सिकताकणादपि लघुतां प्राप्तो विनष्टोऽभूत् । किमेतदस्त्रमिति जिज्ञासायामिदमनुमीयते-केचन वैदिकामन्त्राः शत्रुव्यावृत्तये पठ्यन्ते 'यत इन्द्र भयामहे' इत्याद्यास्ते वा भवेयुरन्ये वा केचन तन्त्रोक्ता इत्येतद्विचारणीयम् ।

एवं सरयूजलान्तर्वर्तिना कुमुदाभिधेन नागेन कुशस्य जैत्राभरणे अपहृते तद्दण्डनाय गारुत्मतास्त्रस्य प्रयोगः उक्तः । सन्ति गरुडमन्त्रास्तत्प्रयोगाश्च तन्त्रेषु तेषु कस्याप्युपयोगः कुशेन कृत इत्यनुमीयते ।

शाकुन्तले षष्ठेऽङ्के तिरस्करिण्या विद्ययाऽन्तर्हितेन मातलिना दुष्यन्तप्रबोधनाय

विदूषकमाक्रम्य कश्चित्परिहासः क्रियते । क्षुब्धो दुष्यन्तः प्राह स्म—भोस्तिरस्करिणीगर्वित ! मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति'— इत्यादि ।

इयं तिरस्करिणी नाम विद्या काचन देवता तन्त्रेषु पठ्यते या साधकस्य गोपनीयं तत्वं रक्षति । इत्थं विक्रमोर्वशीयेऽपि—उर्वशी-चित्रलेखयोः संलापे द्वितीयेऽङ्के पङ्क्तिरियम्—

सखि ! विस्रब्धा भव ननु भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्य अलङ्घनीये कृते स्वः ।

कासुचित् सन्ध्यावन्दनपद्धतिषु श्लोकोऽयं पठ्यते—

"ऊर्ध्वकेशि विरूपाक्षि ! मांसशोणितभोजने ।
तिष्ठ देवि ! शिखाबन्धे चामुण्डे ह्यपराजिते ॥

इयमपराजिता विद्या प्रत्यङ्गिरैव । या महर्षिभिः यज्ञादिप्रत्यूहकारिणां रक्षसां शत्रूणाञ्च निग्रहाय स्वतेजोभिरुत्पादिता । अस्याश्च विधानादिकं तन्त्रग्रन्थेषु प्रसिद्धम् । महाकवेः कालिदासस्य सर्वास्वप्येतासु विद्यासु विपुलतरं ज्ञानमासीदिति सिद्ध्यति ।

एवमेव प्रसङ्गवशात् यथास्थानं मन्त्रविद्यानां परिचयमुपन्यस्यति कविकुलगुरुः । महाकविः कालिदासो भगवतः अर्धनारीश्वरस्य परमोपासक आसीत् ।

"ममापि च क्षपयतु नीललोहितः,
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः" ॥

इति तदीयोक्त्या स्फुटीभवति ।

वामे मरकतश्यामा दक्षिणे विद्रुमारुणा ।
देवता दम्पतिमयी सा मे कामदुघा भवेत् ॥

इत्येवमागमेषु भगवतः शिवस्य ध्यानमुपवर्णितमेव कविना परिगृहीतम् । भगवतः शिवस्य सकल-सकल-निष्कल-निष्कलेषु स्वरूपेषु सकलस्यैव त्रिलोचनत्व नीलकण्ठत्व वामार्धविग्रहवत्वादिविशिष्टस्य स्वरूपस्य सकलसाधकाभीष्टप्रदानसामर्थ्यं सम्भावयता तदेवाऽत्र वर्णितमिति प्राचीनाष्टीकाकाराः प्रतिपादयन्ति ।

किञ्च— गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥

इत्याद्यागमशास्त्रानुसारेण प्रादुर्भूतानां तन्त्राणां विषये वेदादिशास्त्रैः सार्धमेव महाकवेरस्य शिवभक्तस्य महती श्रद्धा तदनुष्ठानपरता कल्पयितुं शक्या । इति ॥

●

चिद्गगनचन्द्रिकाकारः कालिदासः

कविकुलगुरोः कालिदासस्य कृतिषु रघुवंशादिमहाकाव्यत्रयं शाकुन्तलादि-नाटकत्रयञ्च एकस्यैव रचयितुः प्रतिभाप्रसूतिरिति निर्विवाद एवाऽस्ति विदुषां परामर्शः । सन्त्यन्येऽपि भूयांसः संक्षेपविस्तराभ्यामुपनिबद्धाः प्रबन्धाः कालिदास-नाम्ना लब्धगौरवाः । परं सर्वेषां कालिदासकृतत्वं न सम्भवति इति बाह्याभ्यन्तर-परीक्षाभ्यां व्यवस्थापयन्ति पण्डिताः । प्रसंगेऽस्मिन् कालिदासचर्चायामुपेक्षित-प्रायस्य एकस्य आगमशास्त्रीयस्य प्रबन्धस्य विषये काचिद्विचारदृष्टिः अवतार्यते तस्याः सत्याऽसत्यत्वविषये विद्वद्वरेण्या एव निर्णेतारो भविष्यन्ति ।

'चिद्गगनचन्द्रिका' नाम पद्यमयः प्रबन्धः प्राचीनो महद्भिर्विद्वद्भिस्तत्र-तत्र प्रमाणतया परिगृहीतश्च वर्तते । कालिकातानगरीतः प्रकाशितायां 'तान्त्रिकटेक्स्ट' संज्ञकग्रन्थमालायां मुद्रितमिदं ग्रन्थरत्नं आरनाल्डएलेन स्वामिविक्रमतीर्थमहोदया-भ्यां परिष्कृत्य सम्पादितमुपलभ्यते । द्वितीयमस्य संस्करणं तु आन्ध्रदेशीयेन विदुषा कर्रा अग्निहोत्रशास्त्रिणा स्वटीकया संयोज्य प्रकाशितं कदाचिद् दृष्टमस्माभिः ।

"नह्यमूला जनश्रुतिः" इति न्यायेन सत्यपि महति कालव्यवधाने कवेरस्य भगवत्याः काल्याः प्रसादेन निरर्गलं कवित्वं सर्वतोमुखी प्रतिभासिद्धश्च समुपजातेति स्वीक्रियते । तत्र-तत्र कालिदाससम्बन्धिषु स्थानेषु कालिदासोपासिता काली काचि-

दन्या देवी वा परम्परया ख्याता प्रदर्श्यते जनैः। यथा उज्जयिन्यां कालिदासी-यत्वेन ख्याते मिथिलामण्डलान्तर्गते उच्चैठनाम्नि स्थाने वा भगवत्याः स्थानं प्रसिद्धिमनुबध्नाति। किञ्च कुमारसम्भवे शिवविवाहस्य वरयात्रायां—

तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
बलाकिनी नीलपयोदराजिर्दूरं पुरः क्षिप्तशतह्रदेव॥

इत्येतत्पद्यमपि कवेरुपास्यदेवतासम्बन्धसूचकं भवितुमर्हति। अन्यथा मातृकाणां वर्णने कृतेऽपि विशिष्य कालिकायाः पृथग्वर्णने कवेः को हेतुः स्यात्?

कालिदासः काश्मीराभिजन इत्यपि केचित्साधयन्ति तदनुसारं यदि विचार्यते ततः संगतमिदं प्रतिभाति। तथाहि चिद्गगनचन्द्रिकायां वर्णिता काली कालीतत्वं वा काश्मीरेषु परम्परया प्रवृत्तस्य शैवप्रत्यभिज्ञादर्शनस्यैव शाखाविशेषेऽन्तर्भवति। यत् किल क्रमदर्शननाम्ना महार्थदर्शननाम्ना वा व्यपदिश्यते पण्डितैः। एतद्विषये परिचयः पण्डितकान्तिचन्द्रपाण्डेयमहोदयैर्लक्ष्मणपुरविश्वविद्यालयस्य भूतपूर्व-प्राध्यापकैः स्वप्रबन्धेषु विस्तरेण प्रदत्त इति तत्रैवावऽलोकनीयः।

चिद्गगनचन्द्रिकायाः प्रारम्भे पद्यद्वयं दृश्यते। प्रथमं गणेशस्मरणपरं द्वितीयं चेदम्—

स्थूलं सूक्ष्मं परं च त्रिविधमिह जगद् यत्प्रथावेशसिद्धं
युक्तं सत्ता यदीया स्फुरति च परतः स्वप्रथैकस्वभावा।
भामूर्तिर्य विमर्शक्रियमनुपतिता लक्ष्यते लोकवृत्तिः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥
इह कालिदासचन्द्रप्रसूतिरानन्दिनी स्तुतिव्याजात्।
चिद्गगनचन्द्रिकाब्धेः शमयतु संसारदावदवथुं वः॥

अत्र पूर्वश्लोके मालविकाग्निमित्रगतस्य मंगलाचरणस्य चतुर्थः पादः समग्र एवोद्धृतः। विमर्शचतुष्टयात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे पर्यवसानेऽपि स्वनाम समुपात्तं कविना यथा—

'सिद्धनाथकृततत्क्रमस्तुतेः कालिदासरचितां च पंचिकाम्'। इति।
'कालिदासपदवीं तवाश्रितस्त्वत्प्रसादकृतवाग्विजृम्भणः'। इति च।

अत्र त्वत्प्रसादकृतवाग्विजृम्भणः इति विशेषणं किंवदन्तीपक्षानुकूलं प्रतिभाति। प्रबन्धोऽयं गहनतरशास्त्रीयसिद्धान्तगर्भिततया प्रायो दुरूह एव तद्विषयाऽनभिज्ञानाम्। काव्यनाटकादिसमुचिताया भाषाया अभावोऽपि तन्मूलकतयैव समाधातुं शक्यते। एतद्विद्यासम्प्रदायः काश्मीरेषु तदनु चोलकेरलादिदेशेषु लब्धप्रसार आसीत् इति तत्तद्ग्रन्थकाराणां दर्शनाद्वसीयते। यतो महार्थमंजरीनिर्माता महेश्वरानन्दः चोलाभिजनो बभूव तेन काश्मीरग्रन्थानामुद्धरणं स्वस्य तदनुगामित्वञ्च स्पष्टतया प्रतिपादितमस्ति।

कालिदासनाम्नो व्युत्पत्तिरपि पद्ये पुरो निर्दिष्टे प्रदर्शिता चिद्गगनचन्द्रिकायां यथा—वृत्तिदीप्तिनयनैर्विलक्षणैर्वीक्ष्य कालिमहिमाऽनुवर्ण्यते।
केवलं तदनुवर्णनेऽप्युमे त्वन्मुदे तदपि दासजल्पितम्॥

किञ्च—शाकुन्तलीयचरमपद्यस्य तुलना चिद्गगनचन्द्रिकागतेन पद्येनैकेन कर्तव्या यथा शाकुन्तले—'ममाऽपि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः'। इति

चिद्गगनचन्द्रिकायां—'अंजनेन रुचिमिश्रणे समे
रक्तमुल्लसति तावकं वपुः।
श्यामनीलतनुतां जनेऽधिके
पीतशुक्लतनुता च ते रुचौ'॥ इति च।

अत्र नीललोहितपदं किमपि साम्प्रदायिकं तत्वं सूचयति इति वक्तुं सुशकम्। यतोऽत्र सम्प्रदाये नीलो वर्णः अपराशक्तेः, रक्तः परापरायाः, शुक्लश्च पराया इत्यस्ति सम्मुल्लेखः। यदुक्तं तन्त्रालोके—

'पराचन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा।
अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी'॥ इति।

अस्याश्चिद्गगनचन्द्रिकाया उद्धरणानि योगिनी हृदयग्रन्थस्य टीकायां अमृतानन्दनाथेन महार्थमंजर्यां महेश्वरानन्देन, आनन्दलहरीटीकायां कैवल्याश्रमेण, सौभाग्यभास्करटीकायां श्रीभास्कररायदीक्षितैश्च प्रमाणत्वेन परिगृहीतानि प्रकाशन्ते।

तत्र अमृतानन्दनाथः सर्वेषु प्राचीनः कामकलाविलासाख्यग्रन्थकर्तुः पुण्यानन्दनाथस्य शिष्य इति तदुक्त्यैव निर्णीतम्। 'कामकलाविलासः' सुतरां प्राचीन इत्यत्र न विवादः। यद्यपि तस्य स्पष्टतया कालनिर्णयः केनाऽपि न कृतः। आर्थर-एलेन महोदयेन ग्रन्थस्यास्य अनुवादः पूर्वनिर्दिष्टतान्त्रिक टेक्स्ट ग्रन्थमालायां प्रकाशितः समुपलभ्यते। मुद्रणादिविषये यद्वृत्तं तत्सम्पादकमहोदयाभ्यां भूमिकायां निर्दिष्टं तत एव द्रष्टव्यम्।

यत्तु सिद्धनाथकृतस्तुतेरेव विवरणात्मिका स्तुतिरेषा कालिदासस्य सिद्धनाथश्च शम्भुनाथाऽपरनामधेयः श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्याणां गुरुः ततश्च कालिदासोऽयमर्वाचीन इति केचित्कथयन्ति तदपि संदिग्धमेव। सिद्धनाथपदस्य व्यक्तिविशेषवाचकत्वेऽपि पृथगपि कश्चित् कालिदाससम्बन्धी सिद्धनाथो महापुरुषो भवितुमर्हति मालविकाग्निमित्रचतुर्थपादग्रहणं स्वकीयतया नाऽऽक्षेपयोग्यं भवेत्। कालिदासेन रघुवंशकुमारसम्भवयोर्वरयात्राप्रसंगे पौरसुन्दरीणां विभ्रमकुतूहलपराणि प्रायः समानाकाराणि पद्यान्युपन्यस्तानि स्वतन्त्रस्य कवेः स्वरचनाविषये यतस्ततो निक्षेपो न खलु दूषणमावहेत्।

एतत्प्रतिपक्षतया सम्भावनागोचरा अपि तर्काः सम्भवन्ति प्रसिद्धेषु कालिदासप्रबन्धेषु भगवतो गणेशस्य नामकीर्तनमपि नाऽस्ति। रघुवंशे पुत्रकामनया वसिष्ठाश्रमं प्रति प्रस्थानावसरे दिलीपस्य विधातुः पूजा सूचिता कविना यथा—

"अथाऽभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥" इति।

कालिदासस्य समये स्कन्दपूजाया एव सविशेषं प्रचार आसीदित्यनुमीयते। तस्मिन् समये गणेशपूजायाः कीदृशं स्थानमभूदित्ययं विचारकाणां विमर्शमपेक्षते विषयः।

श्यामलादण्डकनवरत्नमालाप्रभृतिस्तोत्राणामपि कर्तृतया कालिदासस्य प्रसिद्धिरस्ति। सा श्यामला मातंगी नाम देवता, दशमहाविद्यास्वन्यतमा ख्याप्यते। तस्या अपि कालीतिनाम्ना निर्देशः श्रीशंकराचार्यकृतायामश्वधाटीस्तुतौ विहितो दृश्यते यथा—

"सालीकरोतु मम कालो मनः स्वपदनालीकसेवनविधौ" इति ।

तदुपासकतयाऽपि कालिदासनाम्ना प्रसिद्धिः सम्भवति महाकवेः । विद्वत्परम्परायां कालिदासः श्यामलादेव्या उपासक इति प्रसिद्धिर्मयाऽपि विश्वसनीयप्राचीनपण्डितेभ्यः कर्णगोचरी कृता ।

यत् किमपि भवेन्नाम चिद्गगनचन्द्रिकायामुपवर्णितो विषयः सारगर्भो गभीरः शास्त्रीयश्च वर्तते । तस्य प म्परा काश्मीरेषु दक्षिणभारते च समुपलभ्यते । महाकविः कालिदासस्तावत् असाधारणप्रतिभाभूमिर्महान् साधकश्च आसीदिति कथने न संशयस्याऽवसरः । ऐतिहासिकी दृष्टिस्तु स्फुटं प्रमाणमपेक्षते । तत्र वस्तुनि विशिष्टविदुषामवधानं प्रार्थय इति ॥

कविकुलगुरोः स्थिरभक्तियोगः

महाकवेः कालिदासस्य विक्रमोर्वशीयाभिधे रूपके मङ्गलपद्ये चतुर्थः पादस्तावदयम्—"स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः"। इति महाकविरयं न क्वापि निरभिप्रायं पदमेकमपि प्रयुङ्क्ते यतो हि ध्वनिकारादीनामियमुक्तिः— "व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां न पुनर्वाच्यवाचकरचनामात्रेणेति"। अनया दृशा परीक्षणीयः स्थिरभक्तियोगोऽयं महाकवेराशयानुसन्धानेन । अत्र न केवलं योगः किन्तु भक्तियुक्तो योगो भक्तिरूपो वा योगः स च स्थिरपदविशिष्ट इत्यादिना को वाऽभिप्रायो महाकवेः प्रतिपत्तव्यः ?

अत्रेदं पूर्वापरानुसन्धानेन शक्यमनुमातुं यदस्य कवेर्भगवति स्थाणौ निरतिशया भक्तिरस्त्येव सर्वेष्वेव तदीयग्रन्थेषु भगवतो भवस्यैव स्तुतिः प्राथम्येन क्रियमाणाऽवलोक्यते । तासु सर्वत्र तदीयसर्वशास्त्रसम्मतं महिमानमुदीर्य तस्मिन् स्वप्रवणतामुपदर्शयति कविः । रघुवंशे तावत्—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

इत्यस्मिन्पद्ये शब्दार्थतत्वावगतये काव्यधाराप्रवृत्तये वा शब्दार्थवदन्योन्यसंश्लिष्टौ जगज्जनकौ शिवौ कविना स्तूयेते तत्र वेदागमादिपरिशीलिता वाक् परापश्यन्त्यादिभेदेन चतुर्विधा प्रसिद्धैव सा तु विशेषतो विचार्यमाणा षट्त्रिंशत्तत्वात्मकविश्ववैचित्र्यहेतुर्भगवती संविदेव प्रतिपाद्यते विद्वद्भिः । अभिनवगुप्तपादाचार्यैस्तन्त्रालोके—

प्राक्पश्यन्त्यथ मध्यान्या वैखरी चेति ता इमाः ।
परापरा परा देवी चरमा त्वपराऽत्मिका ॥
इच्छादिशक्तित्रितयमिदमेव निगद्यते ।
एतत्प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते ॥

इत्थं व्याख्याता वाक्शक्तिः । इत्थमेव भर्तृहरिणा—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोको यः शब्दानुगमादृते"

इत्यादिना शब्दतत्वस्य विश्वावभासकत्वमङ्गीकृतमेव । महाकविः कालिदासोऽत्र भास्यभासकतया परस्परान्वितयोः शिवशक्त्योरशेषविश्ववैचित्र्यरूपेण परिणतिमनुसन्धाय महाकाव्यं निर्मित्सुरात्मनस्तत्प्रवणतामुपदर्शयति । यद्यपि वन्दनं नमस्करणमिति सामान्यरूपेण स्फुरति परं तादृशशब्दार्थरूपपारमेश्वरतत्वस्य केवलया कायिकया क्रियया वन्दनं न संभवति किन्तु सर्वत्र तदभेदानुसन्धानमेव वस्तुतो वन्दनमिति महाकवेराशयः प्रतिभाति । यदुक्तमभियुक्तैः—

"न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमात्मनः ।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम् ॥

एवं महाकवेरुपास्यदेवताविषये या भक्तिः सा सर्वथा द्वैतोज्झिता तदभेदानुसन्धानरूपा यतस्तत एव स्थिरा तदेकप्रवणतारूपचित्तवृत्तिसातत्याच्च योगरूपाऽपि भवतीति 'स्थिरभक्तियोग' नाम्ना व्यपदेशः सम्यक् पदं लभते । कुमारसंभवे पार्वतीविवाहप्रसङ्गे महेश्वरेण स्मृताः समागताश्च मुनयस्तत्वदर्शिनः कृतज्ञताऽऽविष्करणमपि परमेश्वरे जगदात्मनि निष्फलमेवेति ब्रुवते—

"या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष ! त्वदनुध्यानसंभवा ।
सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्माऽसि देहिनाम् ॥

अत्राप्यभेदानुसन्धानरूपैव भक्तिः सप्तर्षीणां कविना सूचिता । भक्तिशास्त्रविदां मधुसूदनसरस्वतीप्रभृतीनां सरण्या तैलधारावदविच्छिन्नभगवदेकाकारप्रत्ययप्रवाहात्मिका चित्तवृत्तिर्द्रुतिमुपगता भक्तिरुच्यते । महाकविरयं सर्वत्र कथावस्तूनि निबध्नन् साक्षात्प्रणाल्या वा भगवन्तं महेश्वरमनुस्मरति । किं बहुना कुमारसम्भवस्याष्टमसर्गे समुत्तुङ्गश्रृङ्गारतरङ्गितेऽपि प्रसङ्गे परमेश्वरस्य मूलभूतं रूपमनामृश्य नाऽयं पदमपि निक्षिपति । तथाहि तत्र विविधासु विलासचेष्टासु प्रवर्तमानास्वपि

'सा तथाऽपि रतये पिनाकिनः'
'शङ्करस्य रुरुधे तया करः'
'प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्'
'जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः' ॥

इत्यादि स्थलेषु पिनाकिशङ्करानङ्गशासनजगद्गुरुप्रभृतिभिः पदैरेव भगवन्तमभिधत्ते तेन चालङ्कारिकैरुद्भावितः प्रकृतिविपर्यय दोषोऽपि निरस्यत एव । जगद्गुरुप्रभृतिभिः पदैः परमेश्वरस्य मूलभूतमेव स्वरूपं कविना परामृश्यते न तु देवदत्तादिवद् कस्यचित् प्राकृतपुरुषस्याभिधानमात्रम् । सोऽयं स्थिरभक्तियोगः पार्वत्याश्चरिते सम्यगुपपादितः कविना । बटुवेशधरेण हरेण मुहुः परीक्षिताऽभिप्राया शैलकन्या हरनिन्दारतं निवारयन्ती यदेवं प्राह—

"उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम् ।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥

तत्र परमार्थतो हरस्वरूपज्ञानमतिदुष्करं तच्च यदि संपद्यते तदा पुरुषार्थपराकाष्ठेति कवेराशयः संलक्ष्यते । परमार्थतो हरस्वरूपज्ञाने च स्थिरभक्तियोग एवोपायः स च विश्वस्मिन् तदभेदभावनारूप इत्यभिप्रायो निष्पन्नः । अत्र कविना 'ह' कार 'र' कारयोराकाशाग्निबीजरूपतया मायाबीजमंशतः कटाक्षयता विश्वस्य शिवशक्त्यात्मकत्वमागमशास्त्रदृष्ट्याऽपि सूचितमाभाति । अयमेवाशयः

शाकुन्तलस्य चरमपद्ये 'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः' इत्यत्र किञ्चिद्विशिष्य व्याख्यातः।

मेघदूते एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायेन परम्परयाऽपि परमोपास्ये भगवति चित्तवृत्तिप्रवाहो भक्तेः प्रकारो भवतीति पद्यविशेषे कविना प्रकाश्यते। तद्यथा—

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।

इत्यादि पद्ये भर्तृत्रिभुवनगुरुचण्डीश्वरशब्दाः सविशेषमवधानमपेक्षन्ते। महाकविवाचामतिगम्भीरोऽपि प्रायः स्वारसिको भवतीति नियममाश्रित्य भर्तृशब्दः स्वातन्त्र्यशक्तिसम्पन्नत्वे पर्यवस्यति। एवं त्रिभुवनगुरुशब्दो वाच्यव्यङ्ग्यदशयोस्तत्तद्विशिष्टार्थबोधकः एवं 'चण्डी' शब्दोऽपि जगन्नियामिकायाः शक्तेर्बोधकः 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इत्यादि मन्त्रस्मरणात्। एवंविधे भगवति सततप्रवाहशीलायां चित्तवृत्तौ गुरूपदेशाद्युपायेन सम्पन्नायां 'स्थिरभक्तियोगः' कालिदासकवेरभिमतः सिध्यतीत्याकलयामः।

एवंविधेन स्थिरभक्तियोगेन न केवलमुपास्यः परमेश्वर इति साधारणोक्तिः किन्तु तेनैव सुलभो नेतरेणोपायेनेति कथने कवेरभिनिवेशो लक्ष्यते। भगवतः शिवस्य सुलभत्वं कविना तद्वचसैव स्फुटीकृतं कुमारसंभवे शाकुन्तले च यथा—

'विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित्प्रवृत्तयः।
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थम्भूतोऽस्मि सूचितः॥
'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः'॥

अवाङ्मनसगोचरं मुक्तोपसृप्यं ब्रह्म तावन्मन्दधीभिर्दुरासदं भवति परमेश्वरस्तु महीप्रभृतिभिः स्थूलाभिरपि सर्वसंवेद्याभिस्तनुभिरुपासितुं सुलभो वर्तते। तत एव च चिरात्पार्थिवमूर्तौ समर्च्यते परमेश्वरः सर्वैः। अतएव कविना 'इत्थंभूतोऽस्मि सूचितः' इति भगवदुक्त्या सुलभत्वमुपदर्शितम्।

नानाविधपुराणागमप्रसिद्धासु कथासु भगवतः सुलभत्वं प्रसिद्धमेव। किञ्च—

सुन्दरः सुमुखः स्वस्थः सुलभो बहुतन्त्रवित् ।
असंशयः संशयच्छिन्निरपेक्षो गुरुर्मतः ॥'

इति तन्त्रराजोक्तेषु गुरुलक्षणेषु 'सुलभ' शब्दस्तत्रैव व्याख्यातः 'सौलभ्यमप्यगर्वित्वम्' इति । परमेश्वरस्य विश्वमूर्तेः सर्वसङ्कोचशङ्काकलङ्काभावान्नाऽहङ्कारलेशः परममौदार्यञ्च सुप्रथितमेव । महाकविनाऽप्येतदुन्मीलितम्—

'अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः' इति ।

तदेवमद्वैतभक्तियोगेनैव सुलभो महेश्वर इति कवेराशयः स्फुटीभवति । सा च भक्तिः पञ्चमपुरुषार्थरूपा निगमागमनिरूपिताऽपि सविशेषमागमोपलभ्या कविवचसां पर्यन्तभूमिरिति नः प्रतिभाति ।

•

शब्दार्थयोः सम्बन्धः

नामरूपात्मकं विश्वं दृश्यते यदिदं द्विधा ।
तत्राऽऽद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः ॥

इत्युक्तदिशा प्रपञ्चनिर्मातुर्विरिञ्चेरपि प्राथम्यमधिगच्छन् कविः सारस्वते साम्राज्ये परैरनासादितं सौभाग्यमनुभवति । किन्निबन्धनमिदमिति विचार्यमाणे कवेः शब्दार्थयोः सम्बन्धः प्रस्थानान्तरविलक्षणः सर्वातिशायी चेत्यनुभवसिद्धं विमर्शकोविदानां न केवलं तर्कचर्वणामात्रप्रत्येयम् । यद्यपि व्यवहारगोचरावेव शब्दार्थौ कविरपि प्रयुङ्क्ते परन्तु न तौ तादृशौ किन्तु साधारणव्यवहारात् भिन्नावेव कवेर्भवतः । कमपि चमत्कृतिभूमिं व्यङ्ग्यमर्थं प्रतिपादयतः शब्दस्यापि साधारणशब्देभ्यो वैलक्षण्यमुपजायते । यदुक्तं ध्वनिकारेण—

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥

अत्र 'कश्चन' इत्युक्त्या विशिष्ट एव शब्दः, तादृश एव च अर्थः कवेरिति प्रतिपाद्यते। अत्रैव लोचनकारोऽप्याह—'एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नम्'। इति।

यद्येवमाशङ्क्यते—व्यञ्जना नाम काचन शब्दशक्तिस्तया कवेरभिप्रायः स्फुटीभवतीत्यत्र घटादिवत् अर्थप्रतिपत्तौ नास्ति विशेषः इति।

तत्रेत्थं काचन विमर्शदिक् शरणी करणीया व्यञ्जना नाम विलक्षणैव शब्दशक्तिर्या क्वचिदर्थनिरपेक्षाऽप्यर्थविशेषमभिव्यङ्क्तुं प्रगल्भते वीणा-वेणु-मृदङ्गादिवत्। वाद्यविशेषाणां भावोद्बोधकत्वमनुभवसिद्धं सचेतसाम्। एतदभिप्रायेण केनाप्युच्यते कविना—

> अर्थहीनोऽपि मधुरः शब्दो लोकप्रियङ्करः।
> वीणावेणुमृदङ्गादीन्यत्रोदाहरणानि नः॥

अनया रीत्या अनुप्रासयमकादीनामलङ्काराणां शब्दान्तरसाधारण्येऽपि चमत्कारविशेषोपस्थापकत्वं स्वयं सिध्यति। एवमेवोपमारूपकोत्प्रेक्षातिशयोक्तिप्रभृत्यर्थालङ्कारेषु उपमानोपमेययोर्विषयविषयिणोर्वा देशकालाकारादिभिः सर्वथा भेदेऽपि तदुभयगतं पुरःस्फूर्तिकं कञ्चन धर्ममादाय क्रियमाणः सम्बन्धः सहृदयपरिषदं प्रीणयतीत्यत्र न कस्यापि मतभेदः।

साधारणीकरणं नाम कश्चिद् व्यापारो यः किल रसास्वादवेलायामपेक्षित इति प्रायः पठ्यते ग्रन्थेषु परमयमेव उपमाया अतिशयोक्तेर्वा निर्वाहकोऽपि मन्तव्यः। कान्तावदनसुधाकरमण्डलयोराह्लादकत्वं वस्तुतो भिन्नमपि यद्वशादभिन्नमिव भासते तत्तु साधारणीकरणस्यैव माहात्म्यम्। अतएव कविवाङ्मये सर्वत्रैवाहार्ययोग्यताज्ञानसाम्राज्यं वैयञ्जनिकबोधस्य बाधाऽनभिभूतत्वञ्च नूनमङ्गीकरणीयं भवति।

एवमुभयत्र शब्देऽर्थे तयोः सम्बन्धे च विशेषः साहित्यविदामनुमतः।

किञ्च—मयूराण्डरसन्यायेन काव्यलताबीजभूतायां कवेः प्रतिभायां विलक्षणयोः शब्दार्थयोरन्योन्याश्लिष्टयोः कल्पनातीतवैचित्र्यगर्भत्वमुपपद्यते; यद्बलादसौ महा-

कविरिति जेगीयते जगत्सु। सैव प्रतिभा व्यञ्जनध्वननादिपर्यायैरुपदिष्टा ग्रन्थेषु। यया च परिपाकवती कविसूक्तिः—

"आवापोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥"

एवंविधानां स्तुतीनां पात्रतामारोहति।

अतएव च साहित्यं नाम न शब्दार्थयोर्यथाकथञ्चित् सहभावः किन्तु यथावत्सहभाव एव इति राजशेखरः काव्यमीमांसायां पर्यवस्थापयामास।

यथावत्सहभाव इत्युक्त्या औचित्यस्य स्वयमेवावतारात् सर्वेऽपि दोषा निरस्यन्ते।

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

इत्यपि तत्वं स्वयमेव समुन्मीलति।

एतदेव साहित्यं समस्तमपि काव्यसंसारमभिव्याप्नोति। कुन्तकोक्तरीत्या साहित्यावच्छिन्नमेव सर्वं कवेर्विलसितम्। यदुक्तम्—

"साहित्यमनयोःशोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥"

यद्वशाच्च कवेश्चक्रवर्तित्वं इत्थमासूत्रितं प्राचीनैः—

"अभ्रङ्कषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
श्लाघ्य स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग् वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥

इत्येष एव सविशेषः सम्बन्धः शब्दार्थयोर्महाकवीनामिति।

●

दोषदृष्टिः

सर्वेष्वपि शास्त्रेषु, सर्वास्वपि कलासु, सर्वेषु शिल्पेष्वपि, तत्तच्छास्त्रीयपद्धत्यनुगुणं निर्माणं प्रधानतयाऽपेक्ष्यत एव। नियमानामुत्सर्गरूपेणापवादरूपेण वा स्थितिस्तु स्वाभाविकी। तत्रापि सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च औचित्यं विदुषां विमर्शसूक्ष्मेक्षिकामधितिष्ठतीति सोऽयं पन्थाः प्राचीनैरर्वाचीनैर्वा सर्वैरेव निर्विवादमभ्युपेयः।

ललितकलासु सङ्गीतसाहित्यचित्रकर्मप्रमुखासु गुणनिरीक्षणमिव दोषनिरीक्षणमपि तदीयोत्कर्षतारतम्यविवेके प्रधानं साधनम्। यद्यपि—

"गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति॥

"सौजन्यधन्यजनुषः पुरुषाः परेषां दोषान्विहाय गुणमेव गवेषयन्ति।
हित्वा भुजङ्गमविषाणि पटीरकोषात् सौरभ्यमेव सुजनाः परिशीलयन्ति॥

इत्युक्त्या च विदुषां गुणदृष्टिः प्रशस्यते परन्तु नैतावता ते दोषानविज्ञायैव गुणमात्रप्रशंसका भवन्तीत्यवगन्तव्यम्। किन्तु दोषं जानाना अपि सभासु साधारणतया कस्याऽपि निन्दनमनुचितमिति दोषोद्घाटनं परिहरन्ति। सत्यां दोषजिज्ञासायां अवश्यं ब्रुवते। अन्यथा तेषामनभिज्ञत्वमेव प्रसज्येत। अत एव कोषकारः पर्यायानवतारयति—

विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः॥

त्यागैकरसिका विद्वांसः क्वचित्पुनर्युक्तिसहस्रेणाऽप्यपरितुष्यतो दुर्जनधौरेयस्य स्वयमेव साम्राज्यं घोषयन्तः किमप्यपूर्वं स्वचरितमुपस्थापयन्ति 'तुष्यतुदुर्जनः' इत्यादिकं भाषमाणाः। ध्वन्यालोकलोचने श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्या अपि असहृदयजनान् व्यञ्जनारहस्यं ग्राहयन्तः क्वचिद् 'अलं गर्दभीदोहनेन' इत्यादि वचनान्यलिखन्।

किञ्च 'हेयहानिपूर्वकमुपादेयोपादानम्'इत्ययमपि न्यायो जागर्ति। यावद्

हेयोपादेययोः स्वरूपतो भेदज्ञानं न स्यात् तावत्तयोर्हानमुपादानं वा कर्तुमशक्यमेवेति हेयानामपि परिचयः शास्त्रेषु प्रदीयत एव । यथा व्याकरणे (शिक्षायाम्)—

"गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥"

अत्र यथाऽधमपाठकानां परिचयः पूर्वमुपन्यस्तस्ततोऽग्रे पाठकानामुत्कर्षावहा गुणा उपवर्ण्यन्ते एवमेव शास्त्रान्तरेष्वपि स्थितिः । काव्यशास्त्रमपि इमामेव पद्यामनुगच्छति, दोषगुणालङ्काराणां क्रमेणैव परिचयविवेकौ तदीयनिबन्धेष्व-वस्थितौ । दोषनिरूपणे द्वयी गतिर्दृश्यन्ते—स्वभावतः सतां दोषाणां निरूपणम्, क्वचित्कल्पनोत्थापितानामपीति । तत्र हेतुरयमेव प्रतिभाति यद्विनेयानां बुद्धयस्तथा-सूक्ष्मार्थभेदिन्यो भूयासुर्यथा ते दोषोत्पत्तेर्निदानमप्यायत्तीकर्तुं प्रगल्भाः स्युरिति । तथाहि—काव्यप्रकाशादिषु दोषनिरूपणप्रसङ्गेन याः काश्चित्कालिदासमहाकवि-सूक्तयः समुद्धृतास्ताः सर्वथा दुष्टा एवेति न केनापि सिद्धान्तयितुं शक्यम् । एतदस्माभिरुपरिष्टाद् विवेचयिष्यते ।

काव्यप्रकाशटीकाकारैरप्यत्र भूरि पराक्रान्तम् । तत्रेयं स्थितिः— 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति शब्दार्थरूपं काव्यमधिकृत्य दोषगुणा-लङ्काराः क्रमेणैव विवेचनीया इति कण्ठरवेणैव ग्रन्थकारः स्वीकुरुते । एवं चतुर्थो-ल्लासारम्भे "धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायते" इत्यादिना ध्वनि-स्वरूपं निरूपयितुं पीठिकामाबध्नन् "दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयम्" इत्यप्युवाच ग्रन्थकृत् । तत्र नरसिंहठक्कुरस्तावत् 'अदोष' इति अकारप्रश्लेषमङ्गीकृत्य "निर्णये कृतेऽदोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयम्" इति पङ्क्ति लापयामास । तद्दृष्ट्या दोषाभावस्यैव 'काव्यधर्मत्वम् न पुनर्दोषस्य । अत्र सम्प्रदायप्रकाशिनी-कारस्तावत्–'हेयोपादेयतेति । दोषरूपाणां धर्माणां हेयता अन्येषामुपादेयतेति विभागः ।" इति यथाक्रमं व्याचष्टे । इदं पूर्वस्मात् सम्यक्प्रतिभाति ।

एवं दोषसामान्यलक्षणप्रस्तावेऽपि–"अत्र च दोषाऽभावे निरूपणीयेऽभावस्य स्वरूपतो निरूपणाऽनर्हतया प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणकत्वात् हेयाऽपरिचये तद्धानाऽसंभवाच्च दोषलक्षणं शाब्दम् आर्थञ्च तदभावलक्षणमित्यवगन्तव्यम्"

इति नरसिंहठक्कुरो व्याख्यातवान् प्रदीपकारोऽपि एवमेव व्याख्याति। विशेषस्तु—"सति तु दोषाभावे गुणादिकं विनापि किञ्चिदाह्लादसंभवात् 'अपदोषतैव विगुणस्य गुण' इति न्यायात्।" इत्युल्लिलेख। एवं प्राचां मते दोषस्तदभावो वा नियतं निरूपणीयतामर्हतीति नात्र विप्रपत्तिः कस्यापि। एवमन्यापि काचिदुक्तिः श्रूयते—

"दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान् निर्दोषिता गुणः॥"

एवमाचार्यदण्डिनाप्युक्तम्—

"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥"

अथैतद् विमृष्टव्यं यत् कया पद्धत्या दोषविवेचनं प्राचीनैः कृतमस्माभिर्वा कर्तव्यम्? तत्र प्राचामपि दृष्टिभेदो भूयानुपलक्ष्यते। अलङ्कारसम्प्रदायानुयायिनाम्, रीतिमार्गानुगामिनाम्, अन्येषां प्राचीनानां वा दोषनिरूपणे तत्सौष्ठवं स विषय-विभागश्च न विविक्ततया स्फुरति यः खलु ध्वनिसम्प्रदायपरिष्कृतवाग्वीचीना-माचार्याणां प्रकाशते।

ध्वनिसम्प्रदायपरमाचार्या आनन्दवर्धनमम्मटप्रभृतयस्तावत् "काव्यास्यात्मा ध्वनिः" इति सिद्धान्तमङ्गीकृत्यैवदोषनिरूपणे प्रावर्तन्त। तन्मते ध्वनिस्त्रिरूपः—वस्त्वलङ्कारसात्मकत्वात्। तत्र ध्वन्यमानोऽप्यर्थो द्वयीं गतिं लभते—कश्चिद्वाच्यता-सहः कश्चिच्च तदसह इति। रसादिलक्षणोऽर्थः—स्वप्नेऽप्यवाच्यः। वस्त्व-लङ्कारौ वाच्यौ व्यङ्ग्यौ चावस्थाभेदेन भवतः।

रसादिध्वनिरेव काव्यस्यात्मस्थानीय इत्यभ्युपगम्य तदनुगुणतयैव दोषाणां नित्यानित्यत्वविभागो व्यवस्थाप्यते-साहित्यविद्भिः। व्यञ्जनास्थापनप्रसङ्गे ध्वनिसिद्धान्तमन्तरेण नित्यानित्यत्वव्यवहारो दोषाणामनुपपन्न इति काव्यप्रकाशादौ स्पष्टतरम्।

प्राचामलङ्कारसम्प्रदायिनां रीतिमार्गानुगामिनामन्येषां वा सुप्रपञ्चितोऽपि

दोषविचारो विचारकषे न निर्दोषतामात्मनः प्रकटयति किन्तु गड्डलिकाप्रवाहन्यायेन गतानुगतिकत्वमेव साधयति ।

यथा वामनसूत्राणि—

गुणविपर्ययात्मानो दोषाः अर्थतस्तदवगमः, सौकर्याय प्रपञ्चः ।

अत्र गुणाभाव एव दोषाणां लक्षणं तैः स्वदृशाऽङ्गीकृतम् । तन्मते गुणविशिष्ट-रीतिरेव काव्यस्यात्मा । एवमन्येऽपि स्वस्वसिद्धान्तान् व्याचक्षते ।

आचार्याः शिष्यबुद्धिवैशद्याय क्वचित्तथाविधोत्कटतरोद्वेगाऽननुभवेऽपि दोषमाविष्कृत्य विवेचनमारभन्ते । यथा अमङ्गलाद्यभिव्यञ्जकाऽश्लीलत्वदोषे 'अभिप्रेत' प्रभृतिपदेषु । लोकव्यवहारारूढानि पदानि वस्तुतो न तथोद्वेगं जनयन्ति यथा व्यवहारमनारूढानि । वामनेन—'न गुप्तलक्षणसंवृतानि' इति सूत्रे तदेतद्विचारितम् । यथा—'संवाध' पदं सङ्कटार्थे प्रसिद्धं न गुह्यार्थे एवं 'जन्मभूमि' प्रभृतिपदं लक्षणयैवाऽसभ्यार्थमुपस्थापयेन्न पुनः शक्त्येति न दोषः । लोकप्रसिद्धं पदं लोकसंवीतमित्युच्यते । यथा—भगिनी, उपस्थानम्, अभिप्रेतमित्यादीनि । एषु च नासभ्यार्थप्रतीतिर्भवति प्रसिद्धार्थस्यैव पुरः स्फुरणात् । उक्तञ्च—

"संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्याऽसभ्यत्व भावना ॥"

एवं दोषविचारे इव तदपवादविचारोऽपि सुतरां निर्ध्यातव्यः काव्यविद्भिः । नहि दोषपाठमात्रेण विवेकदृष्टिः परिष्कृता स्यात् । कवीनां रुचिभेदेन क्वचित्प्रकृतिविपर्ययोऽपि कथासु संलक्ष्यते । यथा भगवान् रामचन्द्रो हि धीरोदात्त स्वभाव इति प्रथितचरम् । कालिदासेन तदनुगुणमेव वर्णनमुपनिबद्धम् । यथा—

"दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥"

भवभूतिना उत्तररामचरिते रामचन्द्रस्य किमपि तथाविधं वैक्लव्यं पदे पदे समुपनिबद्धं यदवस्तु वृत्तमिव क्वचिप्रतिभाति । मन्ये करुणरसप्राधान्यप्रदर्शनपारवश्येन सोऽयं महाकविरपि क्वचिदन्यथाभावमवापितोऽभूत् । एवं महाकविवचसि

दोषकल्पनमपि क्वचिच्छास्त्रकारैर्विधीयत एव। यथा—"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्" इति कुमारसंभवस्थे पद्येऽक्रमदोषः काव्यप्रकाशकारेण निर्दिष्टः। तत्र "पदसन्निवेशरूपरचनायाः प्रस्तुतार्थाऽप्रत्यायकत्वेऽक्रमत्वम्" इति विवरणे तल्लक्षणं स्पष्टीकृतम्। अत्र प्रस्तुते पद्ये—"कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्व-मस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी" इत्यत्र कलापदोत्तरं यथा समुच्चायकश्चकारस्तथैव त्वम्पदोत्तरमपि चकारो युक्त इति काव्यप्रकाशकारो निर्दिदेश अन्यथा समुच्चेय समुच्चायकयोर्व्यवधानात्प्रस्तुतार्थप्रतीतेर्मान्थर्यं स्यात्।

अत्रैतत् सहृदयैर्विचारणीयं कोऽत्र प्रस्तुतोऽर्थः? कथं च तस्याप्रतीतिः? शिवसमागमाभिलाषेण शोच्यत्वमेव प्रस्तुतं द्वयोः। तच्चोपक्रम एव—"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्" इत्युक्त्या स्फुटतरी भवति। ननु "कला च सा" इति वत् "त्वं चास्य" इत्यादि युष्मत्पदाऽव्यवधानेन चकारानुपादानादक्रमत्वमिति कथ्यते चेत् छन्दोऽनुरोधादेव कवेस्तथा पदसङ्घटना सञ्जातेति शक्यं वक्तुम्। प्रस्तुतार्थ-प्रतीतिस्तु न मन्थरी भवतीति। चकारस्याव्यवधानेनोच्चारणे किञ्चिद्दार्ढ्यम्, तदभावेऽपि न दोषः अन्वयप्रतीतौ बाधाभावात् प्रकरणादेस्तादृशार्थोपस्थापना-नुकूलत्वाच्च। एवम्—

"वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्"

इति महिमभट्टोक्तदिशा क्वचिदतिसूक्ष्मार्थं शिष्यान् ग्राहयितुं शास्त्रकाराः महाकविसूक्तिषु दोषोन्मेषं विदधतीति मन्ये।

इत्थं दोषविवेचनपद्धत्या परिष्कृतमतयो विनेया लक्ष्येषु यथासंभवं दोषगुण-विवेकं कर्तुं प्रगल्भा भवेयुरित्येव ग्रन्थकाराणां मुख्यमुद्देश्यमिति शिवम्॥

काव्यस्य सत्यत्वम्

'कविकर्मकाव्यमिति' निरुक्तिप्रसिद्धं दृश्यं रूपकोपरूपात्मकं श्रव्यं महाकाव्य-खण्डकाव्यादिरूपञ्च उभयमपि 'काव्य' पदेन व्यपदिश्यते। तदेतत् कविकर्म चमत्कारैकसारमितिविश्वजनीनो डिण्डिमघोषः। 'काव्ये सारश्चमत्कारः' इति प्रसिद्धेः। स चमत्कारो ज्ञानविशेषरूपः स्वात्मन्येव जायते इत्यत्र न विवादः। ज्ञानमपि द्विविधं सत्यमसत्यमिति यथार्थायथार्थरूपतया द्विधा विभज्यते शास्त्रकारैः, यथार्थमेव प्रमारूपं तदितरञ्च भ्रमात्मकमिति निर्णयः। तत्रेत्थं काचन विचिकित्सा काव्यगतो रसाद्यनुभवो वस्तुवर्णनादिकं वा कस्यां कोटौ निक्षेप्तव्यम्।

न हि तद् यथार्थमिति शक्यते वक्तुं काव्यप्रकाशोक्तसम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्याख्यचतुर्विधलौकिकप्रतीतिवैलक्षण्येन तद्ग्रहणात्। एताश्चतस्रः कोटीर्विहाय न लौकिकी व्यवहारयात्रा निर्वहति। ननु अलौकिकत्वे काव्यीयानुभवस्य कथं लौकिकपदार्थसापेक्षतयैव रसादिप्रतिपत्तिरिति चेत्? नहि लौकिकपदार्था एव रसत्वेन आस्वाद्यन्ते किन्तु तेषामेवविभावनादिव्यापारवत्तया रसात्मतापत्तौ सत्यमेव आस्वादनचमत्कार इत्याहुः।

सत् असत् चेति व्यवहारो भवन्नपि लौकिकीं भूमिमेवाधिशयानो नाऽलौकिकीं सत्तां स्प्रष्टुमपि क्षमते। उद्यानकुसुमखपुष्पयोः किन्निमित्तो भेद इति प्रश्ने द्वितीयस्य मिथ्यात्वेन भेद इति कथनेऽपि न निर्वाहः। ऐन्द्रजालिकपुष्पादिषु व्याघातात्। ऐन्द्रजालिको हि सत्यकुसुमेन सर्वथा सदृशं कुसुमं पुरस्तादानयन् परिमलादिकमनुभावयंश्च दृश्यते। ततस्तन्मिथ्येति न हि शक्यं निगदितुम्। सत्यपुष्पादप्यधिकं तादृशपुष्पाच्चमत्कारोऽप्यनुभवसाक्षिकः। अंशत एतदनुभवसदृशी काव्यगता स्थितिरपि।

काव्यगतप्रतीतेरसत्यत्वकल्पने बहवो दोषाः समापतन्ति। यथा—(१) मिथ्यात्वेन निर्णीते लोकप्रवृत्तिर्न घटते। (२) उत्तरज्ञाननाश्यत्वं काव्यगतप्रतीतेर्नास्ति। (३) रोमाञ्चाश्रुपातादयो विदुषां न सङ्गच्छन्ते इत्यादि। किञ्च—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते"।

इत्यभियुक्तोक्त्या शब्दानुविद्धव्यवहारस्य स्वीकारेण काव्यगतवर्णनानां काल्पनिकत्वेऽपि न मिथ्यात्वं शक्यमुद्धोषयितुम् व्यवहारस्यैव मिथ्यात्वे बाधकत्वात्। प्रत्यभिज्ञादर्शनकारास्तावत्—

"सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥"

इत्युक्तदृशा—महासत्ताऽपराऽभिधायां प्रकाशरूपायां संविदि सदसतोर्भेदो न विभाव्यत इत्यूचुः। अन्यथा प्रतीतिरेव न स्यात् तथा हि कारकत्वं नाम क्रियानिष्पादकत्वं तच्च नासतो न वाऽनुद्यमधर्मिणः संभवतीति—

"शशशृङ्गादिकेनापि स्यात् विभक्त्या समन्वयः" इति तदुदाहरणमवोचन्। एवं साक्षात्परम्परया वा उद्यन्तृत्वरूपचैतन्यस्य सर्वत्रस्वीकारे सर्वोऽपि रचनात्मको व्यापारो नानाविधरसभावनापारावारकल्पः परिस्फुरत्येव।

तत्र वेदान्तिनां मते त्रिविधैव सत्ता-पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, प्रातिभासिकी च। एतत्त्रितय विलक्षणा प्रातिबिम्बिकी सत्ता काव्यीयानुभवस्यैति निर्णीयते। चित्रे "तुरगोऽयमिति" प्रतीतिर्यथा विलक्षणा तथैव नटे "रामोऽयमिति" दर्पणे "मुखमिदमिति" च। अभिहितञ्चाचार्यैः—

"प्रतिभाति न सन्देहो न तत्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितविक्रियः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥"

सम्यङ्मिथ्यादिप्रतीति चतुष्टयवैलक्षण्यान्नेयं व्यावहारिकी सत्ता उत्तरकालबाधवैधुर्यान्न च प्रातिभासिकी विभावादिसंवलितरसास्वादघटितस्वरूपतया न पारमार्थिकी चेति प्रातिबिम्बिकी सत्ता ध्वनिशास्त्रकाराणामाचार्याऽभिनवगुप्तपादप्रभृतीनां सम्मता।

प्रत्यभिज्ञादर्शनमाधारीकृत्यैव रससिद्धान्तो व्यवस्थापितोऽभूदाचार्यैः परप्रकाशरूपे नितान्तस्वच्छे ब्रह्मस्वरूपं कुक्षीकृतं भवतीति विज्ञेयम्। यथोपनिषत्—

"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥" इति ।

श्रीप्रत्यभिज्ञायामपि—

"सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाऽविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥" इति ।

अत्रैतदालोचनीयम्—

वेदान्तिनां मते परस्य चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्मायाख्या, सा च जडा । सैव जगतः परिणाम्युपादानम् । परं ब्रह्म तु विवर्तोपादानम् । अतएव जगतोऽपि मायिकत्वाज्जडत्वं मिथ्यात्वञ्च अद्वैत श्रुतयस्तु पारमार्थिकव्यक्तिरेकैवेत्येवंपराः ।

आगमविदां पक्षे तु—"परब्रह्मनिष्ठा या चिच्छक्तिरौपनिषदानामपि संमता सैवानन्तरूपत्वात् 'माया' इत्युच्यते। 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' 'माया चाविद्या स्वयमेव भवति' इत्यादिश्रुतेः । तद्विलास एव च प्रपञ्चः अतएव च चिद्रूपः 'चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयम्' इति ज्ञानवाशिष्ठात् । अतएव च सत्योऽपि । सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यस्यात्यन्ताऽभेद एव स्वारस्यात् । न चाद्वैतश्रुतिविरोधः, विरोधाऽऽपादकस्यैकस्य भेदस्यैव मिथ्यात्वाङ्गीकारात्" इति श्रीभास्कररराजीय-सेतुबन्धव्याख्यानप्रदर्शितदिशा चैतन्याद्वयवादब्रह्माद्वयवादयोर्मूलत एव भेदः प्रवर्तते । अतएवैतन्मते स्वीक्रियमाणाऽपि 'माया' न तथा बन्धहेतुः स्वातन्त्र्य-कल्पितत्वात् । तदुक्तमभियुक्तैः—

"परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य ।
देवी माया शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥"

एवं स्पन्दात्मकमेव स्वीक्रियमाणं ब्रह्मस्वरूपं हृदयङ्गमतामुपयाति । अन्यथा-भावेतु—

"अस्थास्यदेकरूपेण वपुषाचेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ॥"

इत्युक्तनीत्या परब्रह्मणोऽपि घटादिवज्जडत्वापत्तिरपरिहरणीया समापतेत् ।

अपरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपे परमेश्वरे विश्वमेतत्प्रतिबिम्बकल्पमिति तन्मतमर्यादानुसारेण सामाजिकस्यात्मनि दृश्यं श्रव्यं वा प्रतिबिम्बभावेन परिस्फुरतीति प्रक्रिया ।

लौकिके व्यवहारे बिम्बप्रतिबिम्बयोः पार्थक्यं दर्पणमुखयोरिवावश्यकमलौकिके पारमेश्वरस्वरूपे तु न तथा—

"जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः ॥"

इत्युक्त्या परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यशक्त्यैव तस्मिन् विश्वप्रतिबिम्बनं भवति । इत्यनया भङ्ग्या प्रतिबिम्बवादोऽयं व्यवस्थाप्यते । सत्यपि प्रतिबिम्बशब्दव्यवहारे नात्र प्रतीतेरसत्कल्पना । प्रतिबिम्बं नाम स्वरूपाभिव्यक्तिरेव एवं रसोल्लासमहिम्ना आनन्दात्मकवास्तविकस्वरूपाभिव्यक्तिरेव कविना संपाद्यते । विभावादिसामग्र्याः समुचिते प्रयोगे सति सहृदयस्याऽऽवृतमप्यानन्दमयं स्वरूपं प्रकाशते । "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादिश्रुतयोऽप्यमुमेवार्थं समर्थयन्ते ।

ननु कोऽयमानन्दः ? यदर्थमेषा सहृदयचूडामणीनां परिश्रमपराकाष्ठा इति चेदुक्तैव आत्मनः पूर्णाभिव्यक्तिः । अपूर्णत्वे एव दुःखानां सन्ततयः परापतन्ति । उक्तञ्च –

"पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते ।"

एवमस्याऽऽनन्दमयस्वात्मरूपप्रकाशकस्य काव्यस्योपादेयत्वे कस्य संशयः समुदेति ? अतएव कविमार्गे –कथावस्तुनो न प्राधान्यं किन्तु कथावस्तु घटनाया एव प्राधान्यम् । पौराणिकेष्वपि कथांशेषु परिवर्तनान्यक्रियन्त कविभिः । नायकाद्युत्कर्षप्रतिपिपादयिषया वालिवधादिष्वपि अन्यथाकारणं दृश्यते । अस्ति च कवीनां शासनं "अन्यथा वा प्रकल्पयेदिति" । एवञ्च—

"उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपाया अव्यवस्थिताः ।"

इति न्यायेन रसास्वादमयं परमानन्दसिन्धुमवगाढुं कथावस्त्वपि विपरिवर्तयन्ति कवीन्द्राः । ध्वनिकारोऽप्येतदनुमेने–"न हि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेनात्मलाभः" इत्याद्युक्तिभिः सेयं कविशक्तिरेव कविसर्गप्रसारे निदानम् । सा च रससिद्धस्य

कवेः स्वेच्छारूपैव । तयैव वाङ्मयीं सृष्टिं वितन्वन् कविर्धातारमतिशेते ह्लादमय-सर्गस्य निर्माणात् ।

"सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"

इत्युक्तदिशा महाकवीनां योऽयं मधुमयः कोषः ततो निष्यन्दमाना धारा वचांस्याप्लावयन्ती सदसतोर्भावाभावयोश्च भेदमुन्मार्ष्टि । अत्र चौपनिषदिका आनन्दमयं कोषं संगिरमाणाः संवादिन एव । तादृशं काव्यामृतं रसयन्तः सामाजिकाः सत्वेनाऽसत्वेन वा न काव्यस्वरूपं विविञ्चन्तीति वस्तुस्थितिः । परमतनिरासव्यसनितायां तु तार्किकेषु हेत्वाभासाः, मीमांसकेषु शब्दपारतन्त्र्यं, वैयाकरणानां शब्दमात्रे ध्वनिव्यवहारः एवमादयो व्यञ्जना-वादविप्रतीपा धर्माः समुद्धोष्यन्ते ।

इत्थं समासतः पर्यन्ते काव्यगतप्रतीतेरलौकिकतयाऽनिर्वचनीयत्वमेव सिद्धचतीति सिद्धान्तः । अनिर्वचनीयत्वेऽपि तत्र चमत्कारोदय इति विशेषः । उक्तञ्च—

"सदसत्वेन भावानां युक्तानां द्वितयी स्थितिः ।
तामुल्लंघ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे" । इति ।

जडचेतनयोर्भेदं वितन्वन् भेदकृज्जन एव भ्रान्तो भवति पारमार्थिकजडस्याऽभावात् । यथोक्तम्—

"सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः" ॥ इति ॥

तथापि स्तम्भकुम्भादिषु जनेन जडत्वे व्यवह्रियमाणेऽपि स्तम्भस्य कुम्भस्य वा दर्शनादेव रज्जुबन्धन-जलाहरणादि व्यापारस्मारकत्वरूपं भावोद्बोधकत्वमस्ति न वा ? आद्ये जडत्वभङ्गः द्वितीये अनुभवविरोधः । यदि दर्शकबुद्धेरेवेदं विलसितं किमत्र स्तम्भकुम्भादीनां हेतुत्वमित्युच्यते तदपि न समीचीनम् । तादृशभावनाविशेषोद्बोधकत्वे तेषां जडपदवाच्यानां असाधारणकारणत्वेनाभ्युपगमात् । अतस्तादृशभावनायास्तन्मूलकत्वकथने न कोऽपि बाधः प्रतिभाति । प्रमातरि प्रमेयस्य स्थितिः प्रमेये वा प्रमातुरित्युभयथाऽपि वक्तुं शक्यम् । अन्योन्यसापेक्षताया एकतरप्राधान्येन निर्णेतुमशक्यत्वात् । एवमेव स्वोपलब्धिर्दर्पणादौ प्रतिबिम्बभावेन

वर्ण्यते। एतावता प्रतिबिम्बस्य तुच्छत्वं नास्तीति सिद्धम्। एतदपेक्षयापि ध्वनितत्वविदां विशेषस्तावदयं यत् बिम्बापेक्षया प्रतिबिम्बस्यैव चारुत्वातिशयः, मुखापेक्षया तत्प्रतिबिम्बस्यैव रामणीयकत्वप्रतीतिः, एवमेव वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यस्यैव चारुत्वातिशय इति तुल्यन्यायात्सिद्धम्। अत्रोदाहरणमप्याहुः—

"प्रच्छन्नरागिणी कान्त प्रतिबिम्बितसुन्दरम्।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्त्यपि न तृप्यति" ॥

अत्रोक्तमभिनवगुप्ताचार्यैः—

'भावव्रात ! हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्-
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य यत्क्रीडसे।
यस्त्वामाह जडं ततः सहृदयं मन्यत्वदुःशिक्षितो-
मन्येऽमुष्य जडात्मनः स्तुतिपदं त्वत्साम्यसंभावनात्" ॥

अस्यायं निष्कर्षः—उद्यानेन्दूदयादिर्भावो जनैर्जडोऽयमितिव्यवह्रियते किन्तु स एव कस्यचिदमृतनिष्यन्दप्रायं सुखमन्यस्य दुःखञ्च जनयति। तस्य स्वरूपञ्च याथार्थ्येन न ज्ञायते इत्यतो जनस्तं जडत्वेन व्यपदिशति। परन्तु पृष्टव्योऽसौ सहृदयम्मन्यो यत् येन स्वरूपमनाविष्कुर्वताऽपि त्वं नरीनर्तितोऽसि स हि चेतनतमस्ततः परिशेषे तवैवाऽलीकाऽभिमानिनो जडत्वमायातम्। यस्त्वं तेन जडपदवाच्येन तुलामप्यारोढुं न प्रभवसि इति।

अत्रापि प्रतिबिम्बस्यैव माहात्म्यमुपवर्णितमाचार्यैः। एवमनयाऽपि विचारदशा काव्यीयप्रतीतेरलौकिकचमत्कारनिदानत्वे सम्यगुपपत्तिर्दर्शिता भवति। अतएव साधूच्यते—

"कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयाभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाऽध्यक्षतः किल" ॥ इति ॥

अत्र प्रत्यभिज्ञाशास्त्रानुसारेणाऽपि प्रसङ्गतो विविच्यते यथा शिवसूत्रेषु तृतीयोन्मेषे सूत्राण्येतानि श्रूयन्ते—

"नर्तक आत्मा, रङ्गोऽन्तरात्मा प्रेक्षकाणीन्द्रियाणीति"

एवमत्र परमेशस्यैव नर्तकत्वेन रूपणे कृते बिम्बप्रतिबिम्बोभयाऽधिष्ठातृत्वं प्रतिपादितं भवति । तादृशस्य नर्तकस्य आधारापेक्षायां अन्तरात्मनो सङ्कुचितस्वरूपस्य जीवस्यैव रञ्जकत्वाद्धेतोरङ्गत्वमुपवर्णितम् । इन्द्रियाणि च तदवस्थापन्नस्य योगिनोऽन्तर्मुखतामासाद्य परमानन्दमयममृतत्वं प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तसंक्षेपः । श्रुतिष्वपि 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन्' (कठोपनिषदि) अयमन्तर्मुखैकवेद्यः परमानन्दसन्दोहः समुपवर्णितः । एवं चैतन्याऽद्वयवादाश्रयेण प्रातिबिम्बिकप्रतीतिविधया काव्यप्रतीतिरुपवर्ण्यते ततोऽस्याः महत्त्वमुपादेयत्वञ्च सुज्ञातं भवतीति गहनतरेऽत्र विषये विचारप्रवृत्युद्देश्येन किञ्चिल्लिखितमस्माभिरिति शिवम् ।

●

वक्रोक्ति-वैभवम्

चूडामणीकृतो येन वक्रोऽपि मृगलाञ्छनः ।
वक्रोक्तिचिन्तने प्रज्ञां स मे दद्यादुमापतिः ॥

अये सहृदयचूडामणयः ! कविकुलकमनीयवाङ्माधुरीमकरन्दमधुव्रताः ! साहित्यार्णवसमवगाहकरतलामलकीकृतनिखिलालङ्कारचिन्तामणयो विद्वन्मणयः ! अवदधतु तत्रभवन्तो भवन्तः ।

यदिह सकलाऽलङ्कारसंन्निबन्धविवेचनवेलासु तत्र-तत्राभियुक्तवरैः पापठ्यमानमिदं पद्यरत्नं श्रवणाभरणीकृतमेव भवेत्तत्रभवद्भिः श्रीमद्भिः । तथा च—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

यदुपज्ञमेतदनवद्यं पद्यं स किल सकलाऽलङ्कारिकशेखरायमाणः श्रीमानाचार्यभामहः । तेन हि स्वीये काव्यालङ्कारे द्वितीयपरिच्छेदे क्रमेणालङ्कारविशेषान् लक्षयताऽतिशयोक्तिप्रस्तावे पद्यान्येतान्युपन्यस्तानि । यथा—

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकाऽतिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥

स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः ।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥

अपां यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव ।
तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम् ॥

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।
सर्वैर्वाऽतिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम् ॥

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ इति ॥

अनेनोपक्रमणेन—

लोकातिक्रान्तं कविसमयसिद्धं वस्तुमात्रवर्णनं लक्षणकोटौ निविशति । अतएव 'विभाव्यते' इति पदस्वारस्यमक्षिलक्ष्यीकुर्वाणै राजानककुन्तकाचार्यैर्वक्रोक्तेः काव्यजीवितत्वोद्घोषणे पराक्रान्तम् ।

अथ तत्रभवान् विवेचकमूर्धन्यः स्वनामधन्यो भट्टमम्मटः किमत्र प्रतिपद्यत इत्युद्यता वयं समवलोकयामः । काव्यप्रकाशे-विशेषालङ्कारनिरूपणानन्तरं विशेषगतमेकाधिककार्यनिष्पत्त्यादिरूपं वैशिष्ट्यमतिशयोक्त्यनुप्राणनं विना नावतिष्ठत इति दिध्वनयिषुराचार्यः प्रमिताक्षरमुपसंहारवाक्यमेतदवतारयति—

"सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वाऽयोगात् । अत एवोक्तं "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः" इत्यादि ।

अत्र किञ्चिदालुलोचयिषितमस्माकम् । प्रमिताक्षरया रचनया बह्वर्थप्रकटनपटुराचार्यः 'प्रायेणे'ति पदेन कमभिप्रायमवभासयति ? अमुमेव-यत्-शृङ्खलादिकतिपयधर्मान्तिरमूलकानपहायाऽलङ्कारान् सर्वत्र वक्रोक्तिर्जागरूकैवेति । वस्तुतस्तु तत्रापि एतत्सत्ताकृतैव चमत्कृतिरावर्जयति सहृदयहृदयानीति कथने न खलु स्खलितसंभावनाऽस्माकम् ।

यद्यपि विशिष्टयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वमङ्गीकृत्य व्यापारमुखेन वैशिष्ट्यं वक्रोक्तिरूपमिति स्वतन्त्रं स्व-तन्त्रं प्रस्थानं प्रवर्तयामास कुन्तकाचार्यः। तदनुसारेण सर्वानपि ध्वनिभेदास्तदन्तर्भूतांश्च प्रतिपादयाञ्चक्रे। तत्र नास्माकं काऽपि प्रतिपिपादयिषा।

परन्तु काव्यशरीरभूषणायमानेषूपमाप्रभृतिष्वशेषाऽलङ्कारेषु चमत्कृतिजनक-तावच्छेदकतयाऽनुगतधर्मरूपत्वं वक्रोक्तेरङ्गीक्रियमाणं न दुष्यतीति मन्यामहे। तथाहि न केवलं श्लेष-काकु-वक्रोक्तिसंज्ञः सङ्कुचितोऽर्थोऽत्रास्माकमभीष्टः किन्तु लोकोल्लङ्घितया यत्किञ्चिदतिशयप्रतिपादनपटुः कविवाग्गुम्फ-सुवर्णसौरभावहोऽलौकिक एव। पर्यन्ते तादृशस्यैवार्थस्य रससमरसीभावोऽप्यनायाससंपाद्यो भवतीति समालोचयन्तु विचारलोचनाः।

यत्तु कुन्तकाचार्यः—"स्वभावोक्तेर्नालङ्कारत्वम्, तस्या अलङ्कार्यत्वा-दात्माश्रयदोषप्रसक्तिः इत्युवाच तत्रापि न सम्मतिरस्माकम्। उक्तिवैचित्र्यस्यै-वाऽलङ्कारत्वेऽपि काव्यात्मभूतरसोत्कर्षसम्पादिकायाः स्वभावोक्तेरप्यलङ्कारत्वं न नाम क्षोदक्षमम्। अलङ्कार्यत्वं च वस्तुतो रसस्यैवेति न पूर्वोपात्तदोषोन्मेष-शङ्काऽपि। एवंविधस्वभावोक्तिस्थलेऽपि काचन चिच्चमत्कारकणिका चतुरनुभूयते यदि तदपि वक्रोक्तिवैशिष्ट्यमेव समुल्लसति लोकोत्तरत्वमेव वक्रत्वमिति-तात्पर्यात्।

न चैतदस्मत्कपोलकल्पना वल्लरीविलसितमात्रं मन्तव्यम्। आचार्या अपि—अत्रानुकूलवाचो विलोक्यन्ते। तथाहि—ध्वन्यालोके तृतीयोद्योते गुणीभूतव्यङ्ग्य-विवेकप्रसङ्गे श्रीमानानन्दवर्धनाचार्यः—'यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वा-लङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्? भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तं "सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति" रित्यादि। एतदर्थोन्मी-लनाय 'लोचने' श्रीमदभिनवगुप्तदेशिकेन्द्रचरणा अप्यूचुः-'सैषेति'। याऽतिशयोक्ति-र्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः। 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा-वाचामलङ्कृतिः' इति वचनात्। शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्ती-र्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवाऽसावलङ्कारस्य अलङ्कारान्तर्भावः। लोकोत्तरेण

चैवातिशयः। तेनातिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम्। तथा ह्यनयाऽतिशयोक्त्याऽर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते। तथा प्रमदोद्यानादिर्विभावतां नीयते, विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते इति।

तदेवमाचार्यवचोऽप्यत्राऽनुग्राहकतममेव दृश्यत इति—अतिशयोक्तेः सर्वालङ्कारमूलभूतत्वे नावशिष्यते लवोऽपि संशीतेः।

एवं यद्यप्युपमाया अपि 'उपमैका शैलूषीत्यादि' प्रशंसनपुरस्सरं सकलालङ्कारजीवितायमानत्वमाचार्यवरैस्तत्र तत्र प्रत्यपादि तथापि मूलान्वेषणे क्रियमाणे सैषा वक्रोक्तिरेव तज्जननीपदं भजते। तत्र दिङ्मात्रं विविच्यते—

'मुखं चन्द्र इवाभातीत्यादौ' वर्तमानं सादृश्यं 'गोसदृशो गवय' इत्येतत् स्थलीयसादृश्यात्कुतो भिन्नमिति प्रश्ने कविसमयसिद्धवर्णनमात्रादित्येतावदेवोत्तरमुदीर्येत। गो-गवयसादृश्यस्येव न खलु मुखचन्द्रसादृश्यस्याऽऽपामरमनुभवः सिद्ध्येत्। ततश्च लोकोत्तरत्वमनन्यगतिकतयाऽवश्यमभ्युपेयं भवति। तदेव वक्रत्वं नाम-चमत्कृतिजनकतावच्छेदकीभूतो धर्म इति निवेदितचरम्। अतएव—'नियतिकृत-नियमरहिता' मित्युक्तिः सङ्गच्छते। एतट्टीकाकारैरपि तत्राऽयमर्थ स्फुटीकृत एवाऽऽस्ते।

नन्वेवं वक्रोक्तेरेव सकलार्थधूर्धरत्वे कृतं शृङ्गारादिरसोल्लासैरिति चेन्मर्षयत क्षणम्।

यन्मते 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' तन्मते तु तथैव प्रतिपत्तिः। सर्वेषामपि भेदानां तत्रैवान्तर्भाव-भावनापरवशत्वात्। अस्मन्मते— ध्वनिरेव काव्यस्यात्मा स च पर्यन्ते रसात्मक एव। वक्रोक्तिस्त्वलङ्कारमूलतया चमत्कृतिजननजागरूकतया च विचिन्तनीयेत्येष संरम्भः। उपमाया दीपकादिष्विवाऽस्याः सर्वालङ्कारेष्वनुस्यूतत्वं जागर्ति। उपमाऽपि स्वात्मोपलब्धये एतन्मुखप्रेक्षिणीति वास्तविकी स्थितिः।

तदेवमियमद्यावधि साहित्यसाम्राज्यमाणिक्यमञ्जूषापरिचिताप्याचार्यवराणां किमिति-उपेक्षा-पक्ष-निक्षिप्ताऽऽसीदिति न विज्ञायते यत्किमप्यस्तु तदेतत्प्रस्तुतं वस्तु श्रीमतां पुरो न्यस्तमास्ते।

बहुवक्तव्यविशदीकरणीयेऽप्यमुष्मिन् वस्तुनि लेखकलेवरवृद्धिभिया समासन्यास एवादृतः। आचार्य दण्डिन इमां भणितिं चाऽत्र—

"अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥"

अनुल्लिख्य न विश्राम्यति लेखनी । पर्यन्ते—

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो
नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम् ।
हासैककारणगवेषणया नवार्थ—
तत्वावमशपरितोष समीहया वा ॥"

इति महिमभट्टभणितिं श्रीमतः स्मारयन् विरमामि विस्तरादिति शिवम् ।

●

रसगङ्गाधरे द्वितीयकाव्यलक्षणम्

पण्डितेन्द्रपरिभाषितेषु यत् काव्यमुत्तमतया निगद्यते ।
साहिती विमलचेतसां दृशा तत्परीक्षणमिदं वितन्यते ॥"

जगन्नाथपण्डितराजः प्राचां मम्मटादीना सिद्धान्तमनुसरन्नपि प्रौढिवादमात्रग्रहिलचेताः स्वप्रबन्धे काव्यभेदचतुष्टयं व्यवस्थापयितुं महान्तमायासमङ्गीचकार । ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यचित्राख्यानि त्रीण्येव काव्यानि प्रायः सर्वैरङ्गीक्रियन्ते कोटित्रयपरिच्छेदेनैव ध्वनिसिद्धान्तः सामञ्जस्यमधिरोहतीति प्रेक्षावतामपरोक्षम् ।

कविसंरम्भगोचरतया प्राधान्यमनुभवति व्यङ्ग्ये ध्वनिः, व्यङ्ग्ये वाच्येन समतां न्यूनतां वाऽधिशयाने गुणीभूतव्यङ्ग्यं, व्यङ्ग्यसंस्पर्शरहितशब्दार्थमात्रचमत्कृतौ चित्रमिति क्रमेण काव्यभेदव्यपदेशाः प्रवर्तन्ते ।

अस्ति खलु 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्तीति' न्यायः कस्यापि प्राधान्ये हेतुस्तदीयो गुणोत्कर्ष एव भवति काव्यस्य गुणोत्कर्षे च व्यङ्ग्यचारुतैव जीवातुरिति न

विवादः । यदुक्तं ध्वनिकारेण "व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम् न वाच्यवाचकरचनामात्रेण" "चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा" इति च ।

एवं स्थिते "यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्" इति द्वितीयमुत्तमं नाम काव्यप्रभेदं लक्षयति पण्डितराजः ।

अत्र लक्षणे "अयं स रशनोत्कर्षीत्यादौ" प्राकरणिकतया प्रधाने करुणध्वनौ स्मर्यमाणतया तदङ्गभूतो गुणीभावमापन्नः शृङ्गारो वाच्यार्थापेक्षया प्रधानभूतोऽस्तीति तद्वारणाय अवधारणार्थक 'एव'कारः । सर्वथा अप्रधानस्यैव व्यङ्ग्यस्य संग्राह्यत्वात् ननु अप्रधानं चमत्कारि न भवेदित्याशङ्कामपनेतुं 'चमत्कारकारण'मिति विशेषणमुपात्तम् ।

गुणीभूतव्यङ्ग्ये च चमत्कारित्वं नाऽस्तीति ततोऽपि व्यावृत्तिः । तदेतल्लक्षणं परस्परविरुद्धं चमत्कारजनकताया एव प्राधान्याप्राधान्यव्यवस्थापकत्वात् । अप्रधानं च तत् चमत्कारजनकमित्युभयदशाया युगपदसंभवात् । एकतरस्वीकारे परस्य परित्यागात् दरिद्रदम्पत्योर्निशावगुण्ठनमिवोभयत आकृष्यमाणं नेदं क्वापि संगच्छते ।

काव्यप्रकाशे "अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्" इत्यत्र "अतादृशि" इति पदस्य वाच्यापेक्षयाऽतिशयचमत्कारानाधायके इत्यर्थकरणाद् वाच्यान्न्यूनं समं वा सर्वविधं व्यङ्ग्यमुपसंगृह्यते येन सर्वेषां गुणीभूतानामनुगतलक्षणमपि कर्तुं शक्यम् ।

यदपि मध्यमकाव्यनिरूपणप्रसङ्गे तत्रोक्तम्—"अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाऽजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यमिति" । अत्र किं नाम जागरूकत्वं व्यङ्ग्यस्योत्कटचमत्कारकत्वं अजागरूकत्वमनुत्कटचमत्कारकत्वमित्येव यद्यभिप्रायस्तर्हि द्वयोरपि भेदयोर्गुणीभावस्तु न निवर्तत इति न कोऽपि विशेषः ।

यदि समासोक्त्यादौ व्यङ्ग्यव्यवहारस्य प्रस्तुते वस्तुनि स्फूर्तिः समधिकचमत्कारिणी दीपकादौ व्यङ्ग्यमुपमानोपमेयभावादि न्यूनचमत्कारकमित्युच्यते तदा बहूनामलङ्काराणां यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसंस्पर्शस्य न्यूनाधिकभावेन संभवात्तार-

तम्यस्य पृथग् निर्णेतुमशक्यत्वादनवस्थापातः काव्यभेदानां परिगणनाऽसम्भवापत्तिश्च अतएव प्राचीनैर्गुणीभूतत्वमेव सर्वानुगतं धर्ममादाय मध्यमश्रेण्यां काव्यमिदं निवेशितम् ।

न च गुणीभूतत्वेन काव्यसौन्दर्यहानिः येन तद्वारणाय कश्चिद् भेदविशेषो मध्यमोत्तमोत्तमयोर्मध्ये बलादभिनिवेशयितुमिष्यते । यथोक्तं ध्वनिकृता—"व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्यैव तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते । वाच्यालङ्कारवर्गस्य सर्वमपि चारुत्वमेतन्मूलकमेव—

"वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥"

इत्युक्तत्वात् । अलङ्कारधारिणीनामपि नायिकानां लज्जैव मुख्यं यथा भूषणं तथैवैषा प्रतीयमानार्थच्छाया वाच्यसौन्दर्यसम्वर्धनस्याभ्युपायभूतेत्युक्तं तेनैव—

"मुख्या महाकविगिरामलङ्कारभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥'

सत्येवं प्रतीयमानार्थसंस्पर्शसौभाग्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यविषयिणि किमिति पृथग्भेदगणनमिति न ज्ञायते ।

अत्र क्रमप्राप्तोत्तमकाव्यस्योदाहरणमपि किञ्चिद्विवेचनमपेक्षते—

"राघवविरहज्वालासंतापितसह्यशैलशिखरेषु ।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥"

अत्र "जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिककपिकर्तृकहनूमद्विषयककोपोपपादकतया दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद्राजकलत्रमिव काममपि कमनीयतामावहति" इति व्याचक्षे पण्डितराजः ।

"कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय" इति वाच्योऽर्थः उपपाद्यः । स च जानकीकुशलश्रवणजनितराघवशिशिरीभावसंभूतसह्याचलोष्मापगमरूपेण व्यङ्ग्येनोपपाद्यते एवमत्र व्यङ्ग्यं वाच्याङ्गसपराङ्गनामकगुणीभूतभेदान्तर्गतं प्रतीयते ।

वाच्यस्य प्रकरणादिज्ञानात्कथञ्चिदुपपत्तौ वाच्यसिद्धयङ्गं वा गुणीभूतव्यङ्ग्यमत्र मन्तव्यम् । कापकर्तृकहनुमद्विषयककोपवार्ता न सातिशयचमत्कारिणी । प्रकृते पद्ये "राघवविरहज्वालेति" पूर्वार्धेनैव व्यङ्ग्यस्य किञ्चिदुन्मीलनात् । किञ्चात्र तादृशसंताप तादृशशिशिरीकरणयोरसम्बन्धेऽपि सम्बन्ध कल्पना रूपाऽतिशयोक्तिः स्वशब्दैरनुपस्थानात् व्यज्यमाना किमिति प्राधान्यं नावलम्बेत ? एवं व्यङ्ग्यप्राधान्ये निर्णीतपथस्यास्य वस्तु प्रतिपाद्यालङ्कारध्वनिरूपेणापि परिगणनं सम्भवत्येव । न च व्यज्यमानाप्यतिशयोक्तिर्वाच्यस्योपपादिकेति वक्तव्यम् ।

"व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥"

इत्युक्त्या नियमेन ध्वनित्वोपगमात् ।

अन्यच्च प्रकरणस्य स्फुटतरतया व्यङ्ग्यपर्यन्तमनुधावनमकृत्वैव वाच्यार्थोपपत्तिः सुसंपाद्या भवितुमर्हति । तथाहि कविप्रतिभोन्नीतेन विरहोत्तप्तशैलशयनरूपेण हेतुना कोपस्योपपत्तिरिति काव्यलिङ्गालङ्कारस्याप्यत्रावसरः । शीतकाले शयनं विहाय गमनं क्लेशावहं भवतीत्यत्र न कापि विप्रतिपत्तिः । पवनतनयस्य सीतान्वेषणहेतोर्गमनायाहूतिरपि कपीनां कोपहेतुः संभवेदेव । तदेवमन्यैर्बहुभिरपि प्रकारैः पद्यार्थस्योपपत्तौ संभवन्त्यां प्रधानेतरव्यङ्ग्यकृतश्चमत्कार इत्याग्रहो न समीचीनः प्रतिभाति काव्यार्थभावितात्मनां – सहृदयानामित्यलं बहुना ।

●

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः

शशिबिम्बमिवाम्भोधि कल्लोलेषु कवेर्गिराम् ।
प्रसरन्तं तरङ्गेषु कञ्चिदर्थं विचिन्तये ॥

ध्वनिसिद्धान्तप्रतिष्ठापनपरमाचार्यः श्रीमदानन्दवर्धनः स्वोपज्ञे ध्वन्यालोकप्रबन्धे प्रथमां कारिकामेवमुपन्यस्यति—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याऽभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥" इति ।

कारिकयाऽनया सामान्यतो वक्ष्यमाणस्याऽशेषविषयस्योद्देश्यरूपेण परिचयः प्रादर्शि । तथा हि—ध्वनेः पूर्वाचार्यसंमतत्वम्, तदभाव संभावना, लक्षणादिवृत्यन्तरेण गतार्थत्वकल्पना, ध्वनेरनाख्येयत्वम्, संभाव्यमानसकलविप्रतिपत्तिनिरासेन ध्वनिप्रतिष्ठापनं चेत्येवं रूपेण निष्कृष्टार्थसूचिकेयं कारिका ।

तदनुवृत्तिग्रन्थेन ध्वनेरभाववादिनां विकल्पप्रदर्शनं भक्तिकुक्षिप्रवेशसंभावनाव्युदासं अनाख्येयत्वादिनिरासं च संक्षेपेणोपदर्श्य ध्वनेर्लिलक्षयिषितस्य व्यङ्ग्यार्थसमाश्रितत्वाद् वाच्यव्यङ्ग्यरूपेणार्थविभागप्रदर्शनाय द्वितीयां कारिकामवतारयामास ध्वनिकारः—

"अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥"

तत्राऽपि वाच्यस्य सकलवादिसम्मततया प्राचीनालङ्कारिकाणां तत्रैव सविशेषसंरम्भशालितया न विशेषतो विचारगोचरत्वम् व्यङ्ग्यस्य तु विप्रतिपत्तिविषयतया विवेचनमवशिष्यत इत्यभिप्रायेणोक्तम्—

"तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः ॥"

प्रतीयमानस्य तु ध्वनिसिद्धान्तजीवातुभूततया प्राधान्यमस्तीति सकलावयवाभिव्यङ्ग्यरमणीलावण्यसोदर्यत्वं तदीयमित्थं निरूपितम्—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।

एवं सामान्यतया प्रतीयमानस्य माहात्म्यमुपवर्ण्य तत्राऽपि रसध्वनेरेव कवितात्पर्यविषयत्वमस्तीति तत्त्वोपपादनाय प्राचीनतमसंवादानुसारेण प्रकृतोऽर्थः परिपोष्यते यथा—

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।"

एवंविधे पूर्वापरसम्बन्धे जागरूके यत् केनचिदुच्यते—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चात् 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यनया कारिकया वाच्यव्यङ्ग्ययोः सव्येतरविषाणयोरिव समशीर्षिकया काव्यात्मभावेन परिगणनात् ध्वनिकारस्य मतं स्ववचनविरोधादेव पराहतं भवतीति । तत्रेदं विचार्यते—न तावत् कारिकेयं ध्वनेर्लक्षणत्वेन निर्दिष्टा किन्तु ध्वनिनिरूपणात् प्राक् भूमिकारूपा । तथा च वृत्तौ स्फुटमुक्तम्-'ध्वनेर्लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुं इदमुच्यते' इति । अत्र श्रीमदभिनवगुप्तपादानां लोचनव्याख्याऽपि द्रष्टव्या—"ननु ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति व्याख्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां करोति तत्रेति" ।

एवमेवाग्रेऽपि भूमिरेव भूमिका यथा पूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिरेव विरच्यते तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः, तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिकागणनं तस्याप्यनपन्हवनीयत्वं प्रतिपादयितुम् । इति ।

एतावता नाऽनया कारिकया वाच्यार्थस्य काव्यात्मत्वं सिध्यतीति ज्ञायते, किन्तु वाच्यपृष्ठभावी प्रतीयमानो नाम काव्यजीवातुभूतोऽर्थः स एव काव्यस्यात्माऽस्तीति सूच्यते ।

यथा च भूमिकां विना प्रासादोऽपि न स्थितिं लभते तद्वदेव वाच्याधारेण व्यङ्ग्यार्थस्य स्थितिरिति स्फुटमेतावता सन्दर्भेण। परं प्रासादस्य शिल्पिशतैरुपकल्पितस्य यद्रामणीयकं तत्तु न भूमिकायाः तथैव कविकल्पनाविश्रामधामता प्रासादसम्बन्धः प्रतीयमानस्यैवार्थस्य न तु वाच्यस्य।

किञ्च कारिकासु "समाम्नातः पूर्वैः" "स्मृतौ" इत्यादिभिः शब्दैः पूर्वाचार्यसम्मतिप्रदर्शनेन स्ववचनस्य प्रामाणिकत्वमपि साधितं ग्रन्थकारेण। तथाप्यत्र श्लोके नान्वयः सुलभः परिदृश्यमानयत्तच्छब्दयोः स्वारसिकः सम्बन्धोऽर्थेनैव दृश्यते 'सहृदयश्लाघ्यः' 'काव्यात्मा' इति विशेषणयुगलमप्यर्थेन सह सङ्गच्छते ततश्च वाच्यस्यापि काव्यात्मभावो दुर्वारतामापन्नः। एवं स्थिते किञ्चिदालोचनीयम्—न तावदर्थमात्रस्य काव्यत्वम्, सर्वेष्वपि लौकिकवैदिकवाक्येषु काव्यत्वप्रसङ्गात्। किन्तु काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिभिर्विदग्धपदव्यपदेश्यैः परिगृहीत एवार्थः काव्येषूपयुज्यते, प्राधान्यं चाधिगच्छति एतदभिप्रायेणैव 'सहृदयश्लाघ्यः' इति विशेषणद्वारा काव्यस्यात्मभूतः प्रतीयमानः पृथक् क्रियते तत्र विवक्षानुरोधेनाऽऽकांक्षापूरणाय तच्छब्दः कश्चिदेकः परिकल्पनीयः। तथा च—सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा योऽर्थः प्रतीयमानरूपः स व्यवस्थितः = विशेषेण विभागेन वा अवस्थितः, देहादेः पृथग्भूत आत्मेव। अर्थस्य तु द्वौ भेदौ—वाच्यः प्रतीयमानश्चेति। इत्थमन्वययोजनायां तात्पर्यग्रहणे न बाधः।

ननु यत्तच्छब्दयोर्नियतसम्बन्धावगमकतया कथमत्र तच्छब्दकल्पनं कर्तुमुचितमिति चेदत्रापि विचार्यताम्—यत्तच्छब्दयोराकांक्षानुसारेणैव प्रवृत्तिर्भवतीति भूयोभिरुदाहरणैर्विधेयाविमर्शदोषविचारे प्रदर्शितं मम्मटादिभिः। क्वचिदसतोरपि यत्तच्छब्दयोः परिकल्पनमनुमतं तद्विदाम् यथा—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

अत्रोदाहरणे 'य उत्पत्स्यते तं प्रति' इति द्वयोरविद्यमानयोरपि यत्तत्पदयोः कल्पना क्रियमाणा न दुष्यति। अन्यथा भविष्यद्वर्तमानक्रिययोरेककर्तृसम्बन्ध-

त्वेन प्रतीतिर्न सङ्गता स्यात्। तद्वदत्रापि "अर्थः सहृदयश्लाघ्यः" इत्यादि कारिकायामर्थानुरोधेन तच्छब्दकल्पना न दुष्यति। उपसर्गबलात् विशिष्टार्थ-प्रतीतिश्च प्रमाणसिद्धा। अन्यथा—'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा' इत्यग्रे वक्ष्यमाणकारिकोक्तस्य रसध्वनेः काव्यात्मताप्रतिपादनमपि न समर्थितं स्यात्। रसभावादेः स्वप्नेऽप्यवाच्यत्वात्। तथा च व्यङ्ग्यस्वरूपविवेके काव्य-प्रकाशकारेण त्रिविधमपि व्यङ्ग्यं द्वैविध्येन सङ्कोचयता प्रतिपाद्यते—'किञ्चि-द्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा'। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः' इति।

यदि तु 'सहृदयश्लाघ्यः 'काव्यात्मा' इति विशेषणद्वयमपि अर्थसामान्य-परतया संयोज्य तस्य द्वौ भेदाविति यथास्थितान्वययोजन एवाभिनिवेशः केषा-ञ्चित् शेमुषीजुषां परिदृश्यते तत्राऽपि सुगमः पन्था विचाराणाम्। तथाहि शब्दार्थशरीरमयमपि काव्यं प्राणायमान प्रतीयमान परिस्पन्दं विना न चम-त्करोतीति निर्विवादसिद्धम्। शवशरीरस्येव तद्विहीनस्य काव्यस्य सुतरां हेय-त्वात्। तथापि काव्यव्यवहारे काचिदर्थकल्पना विविधरूपा क्रियते साऽपि प्रकृते विवेचनीयैव। ध्वनिभेदप्रकरणे तावद् अर्थस्थितिस्त्रिविधा-कश्चिदर्थः स्वतः संभवी, कश्चित् कविप्रौढोक्तिसिद्धः, कश्चित्कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धश्चेति। कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्ति कविप्रौढोक्त्या गतार्थयन् रसगङ्गाधरकारस्तु न श्रद्धेयः वाको-वाक्यप्रसङ्गे पात्रोपनिबद्धानामुक्तीनां समधिकचमत्कारजनकतया रसाभिव्यञ्जनो-पकारकत्वस्य स्फुटमनुभवात्। एवं त्रिविधोप्ययमर्थो विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यरूपोऽपि व्यङ्ग्यनिष्ठो भवतीति स्वीक्रियते एवं वाच्यस्यापि सहृदयश्लाघ्यतया काव्यात्मभावोन्मुखतया च काव्यात्मरूपेण व्यवहारोऽपि नाऽसङ्गतः प्रतिभाति।

अन्यच्च ध्वनिकारेणैव स्थलान्तरे—'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां न वाच्यवाचकरचनामात्रेण' इत्युक्तम्। तत्र वाच्योऽपि व्यञ्जकदशायां काव्यात्मरूपतामारोढु क्षमत इति तदभिप्रायः स्फुटीभवति।

एतदभिप्रायेण 'चित्रमपि काव्यप्रभेदरूपेण परिगण्यते' तत्रापि परम्परया प्रतीयमानार्थस्पर्शवत्तानियमात्। केवलं प्रधानतया व्यङ्ग्यतात्पर्यं नास्तीति तस्य चरमकोटि निवेशः स्वीकृतो न तु काव्यस्वरूपाद् बहिर्भावः। अतएव 'शब्द-चित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' इति काव्यप्रकाशोद्धृतकारिकायां

'अव्यङ्ग्य' पदेन न सर्वथा व्यङ्ग्यस्याभावोऽङ्गीकृतष्टीकाकारैः, किन्तु कवितात्पर्यविषयीभूतव्यङ्ग्यस्याऽभावोऽनुमतः। ध्वनिकारस्य सर्वत्र कविवाङ्मये प्रतीयमानचमत्कारमेव प्रमाणयतो भणितिरियमपि द्रष्टव्या—"सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारः यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्" इति। इत्थं प्रतीयमानार्थसंस्पर्शशालितयाऽपि स्पर्शमणिवत् सौवर्णीं प्रक्रियामासाद्य वाच्योऽप्यर्थः काव्यात्मभावं भजेदेव। अपरञ्च—

"आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि।
चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च॥

इति कोषकारोक्तदिशा व्यङ्ग्यस्य कलेवरतया तदुपपादनयत्नवत्तया वा वाच्योऽर्थः 'काव्यात्मा' इत्युक्तिर्न विरोधं लम्भनीया। किं बहुना, विशुद्धमपि वाच्यं काव्यस्वभावनिर्वाहकतया नानात्वं भजमानं काव्यस्वरूपं निर्वहतीतिसम्मनुते स्वयं ध्वनिकारः। यदुक्तं तेनैव चतुर्थोद्द्योते—

अवस्था देशकालादि विशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः॥" इति।

'शुद्धस्य अनपेक्षित व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः' इति च। केवलस्य अनपेक्षित व्यङ्ग्यार्थस्यापि वाच्यार्थस्य स्वभावोक्तिमात्रेण काव्यस्वरूपनिर्वाहकत्वं भवतीति तदभिप्रायः। एकस्यैव वस्तुनस्तत्तदवस्थाभेदभिन्नतया नवनवायमानतया चमत्कृतिजनकता सहृदयहृदयसाक्षिणी परिस्फुरत्येव। यथा कुमारसंभवे प्रथमतो भगवतीं शैलराजकन्यां वर्णयन् महाकविः—

"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥"

इत्येवमुपसंहरति। पुनरपि वसन्ताविर्भावकाले तामेव प्रकारान्तरेण कविरुपवर्णयाञ्चकार—

"आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासोवसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥

पुनरपि परिणयावसरे महाकविरन्यथैव तामुपश्लोकयितुं सन्नह्यति—

"तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं
क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः
प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥ इति ॥

तदेवं वाच्यार्थमात्रस्य रामणीयकनिर्वाहसमर्थतया काव्यात्मभावो न सुदुर्घटः स्वीकृतश्च ध्वनिकारादिभिः । एवमन्यदप्यचेतनेषु चेतनव्यवहारसमारोपादि कौशलं चमत्कारविशेषं जनयितुं प्रभवत्येव । किमधिकेन —स्तम्भकुम्भादिः पदार्थोऽपि कमनीयकामिनीबाहुवल्लीवलयितः सद्यो नायकदशामक्लेशमनुभवति । स्वभावतश्च प्राचीना आलङ्कारिका अपि रीति-वृत्ति-गुणालङ्कारादिनिरूपणव्याजेन कथञ्चिदस्फुटतया ध्वनितत्वमेवानुजग्मुरिति सिद्धान्तः । यथोक्तं ध्वनिकारेण—

'अस्फुस्टफुरितं काव्यतत्वमेतद् यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकितुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥' इति ॥

इत्थमेव शब्दतत्वाश्रया उपनागरिकाद्या वृत्तयः, अर्थतत्वाश्रयाश्च कैशिक्याद्याः परम्परया प्रतीयमानमेवार्थं परिपुष्णन्तीति न विवादः । अतएव 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति भरतोऽपि ब्रूते । तदेवं वाच्यस्याप्यर्थस्य काव्यस्वभावनिर्वाहकतया काव्यात्मभावो न खण्डनीयः केनाऽपि । शब्दार्थविचारे पूर्वापरीभावविधौ च वाच्यस्य प्रथमोपस्थितिगोचरत्वं, लक्ष्य-व्यङ्ग्यादेस्तदुत्तरं प्रतिपत्तिश्चेत्यत्र न कस्याऽपि विचिकित्सावसरः । घटप्रदीपन्यायेन वाच्यस्य व्यञ्जकत्वं प्रतीयमानस्यव्यङ्ग्यत्वमपि सिद्धमेवेति न कश्चिद्विरोधः । सहृदयश्लाघ्यता काव्यस्वरूपनिर्वाहकत्वं तूभयोरर्थयोः स्वभावसिद्धमित्यनया दिशा 'काव्यात्मा' इति पदनिर्वचने न कश्चिद्विरोधः इति सर्वं समञ्जसमेव ।

त्रैपुर-दर्शनम्

आचार्यतनुमाश्रित्य बोधयन्ती परापरान् ।
तत्वार्थान् सा जयत्येका चन्द्रमौलिकुटुम्बिनी ॥

शैव-शाक्तदर्शनपरम्परासु परिचयभाजां विदुषां तदन्यतमत्वेन प्राधान्येन वा श्रीविद्यासम्प्रदायस्तदीयं विपुलतरं वाङ्मयञ्च श्रुतिगोचरीभूते विद्येते एव। सम्प्रदायस्यास्य विशेषस्तावदयम् आगमवेदभागयोः समशीर्षिकया परिगणनमुपयोगश्च सम्प्रदायेऽस्मिन्परिदृश्यते तत एव च श्रीशङ्करभगवत्पादाप्पयदीक्षितभास्कररायराघवभट्टप्रभृतीनां महात्मनां महाविदुषाञ्च दर्शनेऽस्मिन् साभिनिवेशं प्रवृत्तिस्तत्तद्ग्रन्थव्याख्यातृत्वञ्चावलोक्यते। प्रत्यभिज्ञादर्शने श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्या इव श्रीविद्यापराभिधत्रैपुरसम्प्रदायेऽस्मिन् व्याख्यातृषु मूर्धन्यभावं श्रीभास्कररायदीक्षितेन्द्रा भजन्ते । विविधप्रकारैर्व्याख्यानप्राचुर्यं परम्परायामस्यामपि दृश्यते। सम्प्रति लेखेऽस्मिन् त्रिपुरारहस्यज्ञानखण्डीयं विषयमवलम्ब्य संक्षेपेण प्रमेयविचारः प्रस्तूयते ।

अत्रेदं किञ्चिदैतिह्यमुपयुज्यते-पुरा किल ब्रह्मलोके ब्रह्मसभायां समवेतायां समुपस्थितेषु महर्षिवृन्दारकेषु सूक्ष्मातिसूक्ष्मपरतत्वविचारः प्रादुरभूत् । 'परतत्वनिर्णयेनाहं साकल्येन समर्थः' इति ब्रह्मणोत्तरिते विष्णुलोकं गतेष्वेतेषु विष्णुनाऽपि तथैवोक्ते महेश्वरं सम्प्राप्ता महर्षयः । भगवान् महेश्वरोऽपि तथैवोत्तरितवान् । अथ सर्वेष्वेवासमर्थेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः परतत्वनिर्णयाय भगवतीं महाविद्यां ध्यायन्तश्चिरं प्रसादयामासुः । कारणपुरुषाणां ब्रह्मादीनां महर्षीणाञ्च तपसा परितुष्टा चिच्छरीरिणी त्रिपुरा चिदाकाशमभिव्याप्य वर्तमाना शब्दब्रह्ममयी प्रादुरासीत् । गगनाङ्गणे मेघगम्भीरनिस्वनः प्रादुर्बभूव —

"वदन्त्वृषिगणाः किं वो ध्याता तद्द्रुतमीहितम् ।
मत्पराणां हि केषाञ्चिन्न हीयेताभिवाञ्छितम् ॥"

अथ ब्रह्मादयो यथोचितं स्तोत्रादिभिर्महाविद्यां परितोष्य स्वीयान् प्रश्नानवतारयामासुः । यथा—

"ब्रूहि यत्ते परं रूपमैश्वर्यं ज्ञानमेव च।
फलं तत् साधनं मुख्यं साधकं सिद्धिमेव च॥
सिद्धेस्तु परमां काष्ठां सिद्धेषूत्तममेव च।
देव्येतत् क्रमतो ब्रूहि ... ... ॥ इत्यादिना।

अथ भगवत्या महाविद्यया साररूपेण प्रत्येकं प्रश्नाः समाहिताः। सारभूतमागमानाममृतमिदमिति च सूचितम्। यथा--'अमृतं ह्यागमाम्भोधेः समुद्धृत्य ददामि वः' इति।

तत्र प्रथमप्रश्ने 'यत्ते परमरूपमित्यत्र' 'अकारप्रश्लेषेण' प्रश्नस्यांशद्वयं परम्-अपरमिति सञ्जायते। तदनुरोधेन प्रथमतः परं रूपं व्याख्यातम्। यथा—

परा प्रतिभैव देव्याः परं रूपमिति सिद्धान्तः। सा पराप्रतिभा किं स्वरूपेत्याकांक्षायामिदमवधेयम्। इह खलु घटपटादिनानाविधविचित्रदृश्याकारा प्रतिभाज्ञानशब्दवाच्या स्वप्रकाशाऽनपह्नवनीया जागर्ति। यदि तस्या अपह्नवः स्यात्तर्हि न प्रश्नो नाप्युत्तरं घटते, प्रश्नप्रतिवचनादेः प्रतिभामात्रायत्तत्वात्। नहि तस्यास्तत्तद्दृश्याकारक्षणिकप्रतिभामात्रपरिनिष्ठितं रूपम्, स्मृत्यनुसंधानाद्यनुपपत्तेः। अतस्तद्रूपं तत्तत्प्रतिबिम्बपरिच्छिन्नदर्पणांशराश्यनुस्यूतमहादर्पणात्तत्तद्दृश्याकारपरिच्छिन्नापरप्रतिभाधाराराश्यनुस्यूतमहाप्रतिभैव। एषैव पराप्रतिभा सामान्यज्ञानरूपा देशकालाद्यपरिच्छिन्ना परं रूपमिति त्रिपुरारहस्यदीपिकायां श्रीनिवासस्योक्तिः। अयमेवार्थः श्रीप्रत्यभिज्ञायां भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादितः। यथा—

"सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥" इति।

"सौभाग्यभास्करे" श्रीभास्कररायदीक्षितैरपि "देशकालापरिच्छिन्ना" इति नामव्याख्यानेऽयमेवार्थः परामृष्टः। तद्यथा—"देशकालाभ्यामपरिच्छिन्ना" तत्कृतपरिच्छेदाभाववती। "इह नास्ती'ति प्रतीतिविषयोऽत्यन्ताभावो देशतः परिच्छेदः, 'पूर्वं नासीदग्रे न भविष्यती'ति प्रतीतिविषयौ प्रागभावप्रध्वंसौ कालतः परिच्छेदः। 'अधुना नास्ती'ति त्वत्यन्ताभाव एव। ईदृशपरिच्छेदाभावो नाम तत्प्रतियोगित्वाभावः प्रतियोगित्वसम्बन्धेन तयोरभावो वा तद्वतीत्यर्थः" इति।

इदमेव परं रूपं त्रिपुरायाः यत्र दर्पणप्रतिबिम्बन्यायेन जगदवभासते। यदुक्तम्–

"यत्र सर्वं जगदिदं दर्पणप्रतिबिम्बवत्।
उत्पन्नञ्च स्थितं लीनं सर्वेषां भासते सदा॥"

ननु दर्पणे बिम्बनिमित्तकं प्रतिबिम्बभासनम्, परप्रतिभायां कुतो जगदवभासनमिति चेत् उच्यते। स्वातन्त्र्याख्यशक्तिमहिम्नैव तदपि सङ्गच्छते।

ननु 'भासते' इत्युक्तेर्भास्यभासकद्वैतानपगमः तदपि समाहितम्। यथा "यद्योगिनां निर्विकल्पं विभात्यात्मनि केवलम्" इति। स्वात्मनि चिद्रूपे देहादिदृश्याभासलेशशून्ये केवलमहमित्यखण्डानुभवाकारे द्रष्ट्रमात्ररूपेणैव तद्भानमिति भावः। यथोक्तं महर्षिणा दुर्वाससा शक्तिमहिमस्तोत्रे–

'विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युजृम्भसे मातृके' इति।

नन्वेवंविधे परप्रतिभारूपे योगिभिन्नानामसन्निधानां किं प्रमाणं येनाश्वासः सम्भवेदित्यत उच्यते–'यदभाने न किञ्चित्स्यात् यच्छास्त्रैरभिलक्षितम्' इति। यत्स्वरूपानङ्गीकारे विश्वस्य सर्वस्याप्यन्धबधिरप्रायतापत्तिरिति व्यतिरेकेणोच्यते। शास्त्राणान्तु लक्षणावृत्त्यैव प्रवृत्तिः साक्षादभिधातुमसामर्थ्यात्। अतएव 'अभिलक्षितम्' इत्युक्तिः। ललितानामत्रिशत्यामपि पठ्यते–'लक्ष्यार्था लक्षणागम्या' इति। अत्रापि भूतकालिकप्रत्ययविधानाच्छास्त्रैरभिलक्षितं तिष्ठत्येवेति सूच्यते। इदमेव परं रूपं महाविद्यायाः इति प्रथमप्रश्नस्य प्रथमोऽशः समाहितः।

अथापरं रूपं व्याख्यायते—'तत्तु सगुणं सगुणसदृशं वा'। साम्प्रदायिकास्तु सगुणसदृशं न पुनः सगुणमिति विवृण्वते, षट्त्रिंशत्तत्वसंख्यानवेलायां गुणानामधोऽधः परिदृश्यमानत्वात् तदूर्ध्ववर्तितत्वकदम्बकाधिष्ठितस्य रूपस्य गुणातीतत्वादिति तेषामभिप्रायः। यथोक्तं श्रीविद्याङ्घ्रिगीते—'सगुणसदृशकरुणाकृतिकलिते' तत्स्वरूपं निरूपितं यथा—

"ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूर्ध्वे सुधाम्बुधौ।
मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे॥
पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम्।
अनादिमिथुनं यत्तदपराख्यं ऋषीश्वराः॥ इत्यादि श्लोकैः।

'अनेकब्रह्माण्डाद्यूर्ध्वभावावस्थितिकथनादेव निरवधिकैश्वर्यनिरूपणद्वारा सगुणमूर्तिभ्य उत्कृष्टत्वेन प्रशंसन'मिति टीकायाम् ।

त्रैपुरसुन्दरं त्रिषु पुरेषु धामसु जाग्रदादिषु सर्वस्पृहणीयत्वेनातिसुन्दरमनुगतं यत्परं रूपं परचिदात्मतत्वं तत्सम्बन्धिभक्तानुग्रहाय स्वस्वातन्त्र्यमात्रनिमित्तावभासितरूपमेव प्रधानमपरं रूपमित्याशयः। अप्रधानमपरं रूपन्तु—'गणेशस्कन्ददिक्पालाः शक्तयो गणदेवताः' इत्यादिना निरूपितं सर्वविधदैवतकदम्बकात्मकं ज्ञेयम् । 'यद्यद् विभूतिमत्सत्वं' इत्यादिगीतोक्तदिशा सर्वेषां मूलतेजोंऽशभागितयाऽप्रधानापररूपतेति संवदति सोऽयं निरूपणप्रकारः ।

इदानीमैश्वर्यस्वरूपं निरूप्यते—तत्रापि मुख्यमैश्वर्यमेकं बहुविधान्यपरिगणनीयानि चान्यानि। स्वरूपाद्भिन्नं कारणमनपेक्ष्यैव जगदाकारेण स्फुरणं मुख्यमैश्वर्यम्। न च स्वांशभेदापेक्षया तथा स्फुरणमुपपादनीयम् अखण्डचिन्मात्रत्वेन तत्रांशाभावात् । यथोच्यते—

"अनपेक्ष्यैव यत्किञ्चिदहमद्वयचिन्मयी ।
स्फुराम्यनन्तजगदाकारेण ऋषिपुङ्गवाः ॥
तथा स्फुरन्त्यपि सदा नात्येम्यद्वैतचिद्वपुः ।
एतन्मे मुख्यमैश्वर्यं दुर्घटार्थविभावनम् ॥ इति ॥

अयं भावः—विचित्रजगदाकारस्य प्रतिबिम्बतुल्यत्वान्न मे स्वरूपप्रतिहतिः गुरुशिष्यभावेन बन्धमोक्षादिलीलाश्च पुनः पुनः समाचरन्ती क्रीडामीति वा, निरुपादानसम्भारमेव जगदेतत् सृजामीति वा, यतो भूयस्यो ममैश्वर्यपरम्परा इत्यादि समुपवर्णितं महाविद्ययैव । तदुक्तम्—

"नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम् ।
निरुपादानसंभारं सृजामि जगदीदृशम् ।
इत्यादि सन्ति बहुधा ममैश्वर्यपरम्पराः । इति ।

अथ स्वेच्छामात्रकल्पिताविद्याबन्धनिवृत्तये ज्ञानस्वरूपमुच्यते—

"मम ज्ञानं बहुविधं द्वैताद्वैतादिभेदतः ।
परापरविभेदाच्च बहुधा चापि तत्फलम् ॥ इत्यादिना ।

ध्यातुः स्वातिरिक्तमूर्तिमन्त्रादिविविधविषयकध्यानमेव द्वैतज्ञानम् । अतएवा-द्वैतज्ञानादस्यापकृष्टत्वम् । नन्वेवं ध्यानोपासनादीनां निष्फलत्वापत्तिरिति चेन्न । भगवन्नियतिशक्तिनियमितत्वाच्चित्तशोधनद्वारा मुख्यफलप्रापकत्वन्न हीयते । अतएवोक्तम्—

"तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यतः" इति ।

अपरस्वरूपनिर्णयप्रसङ्गे 'ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूर्ध्वे सुधाम्बुधौ' इत्या-द्युक्तदिशा स्फुटीकृतस्य दैवतस्योपासनमेव मुख्यफलप्रापकं भवतीति कथ्यते—

"अपरञ्चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि ।
प्रोक्तमुख्यापरमयं ध्यानं मुख्यफलक्रमम् ॥ इति ।

यद्यपि 'अद्वैतविज्ञानमेव परविज्ञानमीरितम्' इति तथाप्यपरमुख्यस्वरूपोपा-स्तिमन्तरा शुद्धचिदद्वैतस्वरूपप्रवेशो न लभ्यत इत्यस्त्यस्य शास्त्रस्य घण्टाघोषः । यथा—

"मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम् ।
कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम् ॥" इति ।

अद्वैतविज्ञानं तावच्चित्तस्य शुद्धचिदात्मनि मज्जनेन तदेकीभावप्राप्त्या निर्वि-कल्पसमाधिरूपमेव । परं तादृशसमाधेर्व्युत्थितस्य तत्समाधावनुभूतं शुद्धचिद्रूपम-नुविभातं सत्तदेव 'अहम्' इत्यखण्डाकारेण प्रत्यभिज्ञातं भवति । इदमेव परं विज्ञान जीवन्मुक्त्यवस्थाहेतुः ।

एवंविधज्ञानद्वयस्य किं फलमिति जिज्ञासायामुच्यते—

"विज्ञानस्य फलं सर्वदुःखानां विलयो भवेत् ।
अत्यन्ताभयसम्प्राप्तिर्मोक्ष इत्युच्यते फलम् ॥ इति ।

भावनोपनिषद्यपि—'एवं……भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति' स एव शिव-योगीति गद्यते' इत्युक्तम् इदं फलं प्रधानतया प्रोक्तम्, आनुषङ्गिकाणि फलान्यर्थ-कामाद्यवाप्तिरूपाणि राज्यलाभादीनि तु नोक्तानि, ज्ञानिनां तत्र स्वरसतः प्रवृत्त्य-भावात् प्रत्युत तेषां प्रतिबन्धकत्वाच्च ।

इदानीं साधनं वक्तुमुपक्रमते—'एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम्' इति। किं नाम तत्परत्वमिति जिज्ञासायामुक्तम्—'एतदवश्यं साधयिष्यामीति तत्साधनसम्पादने विलम्बासहनप्रयोजकचित्तवृत्तिविशेष एव' इति। इत्थं दृढव्यवसायस्य साधकस्य बुद्धेर्नैर्मल्यतारतम्येन शीघ्रं चिरेण वा लक्ष्यप्राप्तिर्भवत्येव। यथोच्यते—

"दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि।
बुद्धिनैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः॥ इति॥

यद्यपि बुद्धिदोषा बहवः सन्ति परं संकलय्य गणने त्रय एव। यथा (१) अनाश्वासः (२) कामवासना (३) जाड्यञ्चेति। तेषामपि तद्विपरीतनिश्चयाभ्यासाच्छनैःशनैः परिक्षयो जायत इत्यलमप्रकृतेन।

अतः परं साधकस्वरूपं निरूप्यते—पूर्वोक्ततात्पर्यवान् परस्यां देवतायां दृढभक्तिशाली च साधक इत्युच्यते। केवलं साधनतत्परो योगाङ्गाद्यनुरक्तो भक्तिवर्जितश्चेन्न स फलभागिति निर्दिष्टम्। यथा—

"यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम्,
अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः।
पदे-पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा॥ इति।
तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः॥ इति च।

इदानीं सिद्धिस्वरूपं प्रदर्श्यते—"सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना" इति। देहादिविलक्षणशुद्धचिन्मात्ररूपे सततावस्थानं सिद्धिरित्यर्थः। यद्यपि भूमिकाभेदादुपासकस्य काश्चन सिद्धयः स्वभावतो लभ्याः काश्चित्तु काम्यकर्मादिनापि तथापि ज्ञानिभिस्तत्र परमोपेयबुद्धिर्न विधेयेति तात्पर्येणोच्यते—

"सिद्धयः खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च।
आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ इति॥"

स्वात्मविज्ञानसिद्धिमतः उपासकधौरेयस्य पूर्वोक्ताः खेचरत्वाद्याः सिद्धयः सहजा एव सम्पद्यन्त इत्युक्तम्—

"स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः" इति।

साप्यात्मविज्ञानसिद्धिस्त्रिविधा—उत्तममध्यमाधमभेदात्। तत्रोत्तमा तावद्-व्यवहारदशायां वर्तमानस्य समाधौ वा प्रविष्टस्य नित्यनिरवच्छिन्नशुद्धचिद्रूपान्यूनानधिकतया तिष्ठति। यथा—जनकादीनाम्। एवं जाग्रदाद्यवस्थात्रयेऽपि समानाकारा या सा परमोत्तमेति कथ्यते। लोकस्य सर्वदाव्यवहारदशां प्रत्युन्मुखत्वं यथा स्वाभाविकम् यादृशी च स्वरसवाहिनी प्रवृत्तिस्तादृश्येव यदा शुद्धचिद्रूपोन्मुखी सम्पद्येत तदैव—'सिद्धेः परमा काष्ठा' इति वक्तुं शक्यते। यदुक्तम्—

"अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि।
अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता॥ इति।

मध्यमाधमसिद्धयोस्तु स्वरूपं शुद्धचिद्रूपोन्मुखत्वतारतम्यभेदादवगन्तव्यम्। "एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते" इत्युक्तदिशा पूर्वोक्तसर्वात्मत्वसिद्धिसाम्राज्यमनुभवतः पुरुषधौरेयस्यैव 'सिद्धोत्तमपदेन' व्यवहारः।

एवंविधस्य सिद्धिमतो बहूनि लक्षणानि निर्दिष्टानि सन्ति परमेतावान्निष्कर्षो यत्—

"सर्वं सुखञ्च दुःखञ्च व्यवहारञ्च जागतम्।
स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः॥

इत्युक्तनयेन दर्पणवज्जगद्व्यवहारप्रतिबिम्बाश्रयत्वेन स्वरूपं जानानो नित्यमुक्तस्तिष्ठतीति। तादृशः सिद्धोत्तमो महाविद्यास्वरूपान्नातिरिच्यत इति स्वयं तयैव निर्दिष्टम्—

"सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित्।
एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया॥ इति।

एवं त्रैपुरदर्शनस्य संक्षिप्तोऽयं परिचयो विदुषां प्रमोदमादध्यादिति विरम्यते विस्तरात्।

आगम-परिचयः

वागाद्यतीतमुपदेशपथाऽनुपेयमद्वैतमात्महृदयं प्रकटीचिकीर्षुः ।
योऽर्द्धाम्बिकेशवपुषाऽऽविरभूत्परस्मै तस्मै विचित्र-विभवाय नतिर्भवाय ॥

"निगमागमयोरेकशास्त्रत्वम्"

आगमः कः ? किं प्रयोजनः ? किमाकारश्चेति किञ्चन परिचाययितुं प्रयतामहे—

"पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥"

इति मनूक्तदिशा त्रैकालिक-सकलार्थोपज्ञाभूमिरकृत्रिमोऽपौरुषेयो महर्षिभिः साक्षात्क्रियमाणो ज्ञानराशिर्वेदनामधेयो यथा प्रथते: तथैव 'आगमस्तु अनवच्छिन्न-माहेश्वरप्रकाशपरमार्थः' इत्याचार्य-अभिनवगुप्तपादोक्तया दिशा स्वप्रकाशयथार्थ-ज्ञानरूप इति उभयोरेकलक्षणता सिद्धैव । अतएव कुल्लूकभट्टेन 'श्रुतिर्द्विविधा—वैदिकी तान्त्रिकी' चेत्युद्धृतं वचनम् । एवमागमो वेदाद्वस्तुतो न भिद्यते । यथा—वेदोपबृंहणाय पुराणानां प्रवृत्तिस्तथैव तन्त्राणामप्युपबृंहणाय दृश्यते । पुराणेषु तत्र तत्र वर्ण्यमान उपासनाप्रकारः सर्वथाऽऽगममूलक एवेति को वा विप्रतिपद्यते । एतदभिप्रायेणैव श्रीकण्ठशैवाचार्यैः स्वकीये ब्रह्मसूत्राणां भाष्ये उच्यत इदं यत्—

"वयन्तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः । वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः तस्य तत्कर्तृत्वात् । अतः शिवागमो द्विविधः–त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति । उभयोरेकः कर्ता शिवः । उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ' इति (श्रीकण्ठभाष्ये २ । २ । ३८) तथा च श्रुतिरेवाह—

"ईशानः सर्वविद्यानाम् । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै", इत्यादि ।

स्मृतिरपि समर्थयते तथा—

"अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम् ।
आदिकर्ता कविः साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः ॥"

'वेदांश्च प्रहिणोति' इत्यत्र 'च'कार इतरविद्यासमुच्चायकस्तेन तन्त्राणां पुराणादीनां च ग्रहणम्। एवं वाचस्पतिमिश्राणां तत्ववैशारद्यामुक्तमागमलक्षणं धर्मलक्षणानुकारि सम्यगेव। यथा—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।" इति एवं 'शिववक्त्रादागतं गिरिजामुखे गतं वासुदेवस्य च मतमित्यागम' इत्यादि बहुप्रकारा व्युत्पत्तिरागमपदप्रतिपाद्यस्य शास्त्रस्य लभ्यते। येन केनापि लक्षणेन स्वतः प्रमाणं ज्ञानमित्येवायाति।

तथा च त्रिपुरारहस्ये—

"वेद एव हि तन्त्रं स्यात्तन्त्रं वेदः प्रकीर्तितम्।
नानयोर्विद्यते भेदो लेशांशेनाऽपि कुत्रचित्॥
तथा हि वेदभागेषु तन्त्रभागः प्रदृश्यते।
यत्र मन्त्र-यन्त्र-पूजा-विधानं सुस्फुटं स्थितम्॥
एवंविधो वेदभागो यतस्तन्मूर्ध्नि संस्थितः।
तन्त्रसङ्केतसंयुक्तस्ततस्तन्त्रं समुत्तमम्॥
तन्त्रेष्वपि वेदभागा मन्त्रब्राह्मणभेदिताः।
दृश्यन्ते कर्मविधिषु तस्मात्तन्त्रं समुत्तमम्॥ इत्यादि।

आगमशब्दस्य व्यापकता

अथ 'आगमशब्दस्य' वैशिष्ट्यं पर्यालोचनीयम्। आगमेषु आगमशब्दः सर्वस्यापि शब्दराशेर्वाचकतयाऽभ्युपेयते न केवलं 'तन्त्राख्य' तद्धृदविशेषवाचकतया।

तथा च त्रिपुरारहस्यम्—

'वेदो ह्यागमभागः स्याच्छब्दराशिस्तथागमः।
तस्या मूर्तिरतः सर्वं प्रवृत्तं तस्य संश्रयात्॥
त्रैवर्णिकाधिकारेण वेदरूपः प्रवर्तते।
दयया परमेशानः सर्वानुद्धर्तुमिच्छया॥
वेद आगमसंज्ञानं विभावयदनुत्तमम्।
आगमः परमेशस्य विमर्श इति निश्चयः॥
क्रमेण ब्रह्ममुख्यानां मुखादुद्भावयत्तु तम्।
अपारोह्यागमाम्भोधिः सर्वलोकेषु सङ्गतः॥

कालेन मन्दधिषणान् कृपणानभिलक्ष्य तु ।
ऋषिभिस्तमागमाब्धिं मथित्वा प्राज्यया धिया ॥
सारसंग्रहरूपात्मतन्त्रामृतमनुत्तमम् ।
देशभेदविभेदेन पृथगेव विभावितम् ॥
तत्र द्विजानां वेदोक्तकर्मभिः संस्कृतात्मनाम् ॥
श्रौतकर्ममुखेनैव तान्त्रिके ह्यधिकारिता ।
शूद्रादीनां तु कैवल्यात् भवेत्तन्त्राधिकारिता ॥ इत्यादि ।

एवं आगमपदं सर्वस्यापि वाङ्मयराशेरभिधायकतया परिगृहीतं दृश्यते स च परमेश्वरस्य सहजामर्शः स्वाभाविकमविनाभूतं च ज्ञानमिति तस्य स्वतः प्रामाण्यं सिद्धमेव ।

आगमस्य क्वचित्सारसंग्रहरूपमेव 'तन्त्र'मित्युच्यते । तन्त्रपदेन विस्तारार्थक—'तन्' धातुमूलेन आगमप्रतिपाद्यानां मन्त्रोपास्तिप्रकारसर्गादिविषयाणां संग्राहको ग्रन्थ उच्यते । स्पष्टं च तल्लक्षणं वाराहीतन्त्रादौ ।

महाभारते स्वतः प्रामाण्यमागमानां समर्थितम् । तथा च—

"सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ इति ।
आत्मप्रामाण्यानि स्वतः प्रमाणानीत्यर्थः ।

आगमानां प्रवृत्तिः

इह खलु अस्माकं भारतीयानां संस्कृतिः परमपुरुषार्थैकप्रयोजना । साक्षात्परम्परया वा स्वरूपावाप्तिरूपो मोक्षाख्यस्तुरीयः पुरुषार्थ एव सर्वासां विद्यानामुद्देश्यम् । तदवाप्तिश्च सर्वेषां प्राणिनां न समानतया संभवति विविधकर्मपरिपाकपरवशत्वात् ।

परमेश्वरः परमकारुणिकतया सर्वानपि तानुद्दिधीर्षुः मिथो विलक्षणा अपि तत्तदधिकारिजनोपयोगिनीर्विद्याः प्रादुर्भावयामास । अधिकारश्च चित्त-शुद्धि-तारतम्यात्, चित्तशुद्धिश्च विहितानुष्ठाननिषिद्ध-परिहारादि-स्वधर्माचरणपूर्वकभगवदाराधनादेवेति सर्वत्राभासमानो विद्यानां विरोधोऽधिकारभेदमूलक एवेति सिद्धान्तः ।

तथा चाहुः शास्त्रकाराः—"अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः" इति । दिङ्मात्रं यथा—नास्तिकानामेवाऽऽर्हतादिदर्शनेषु त्रैवर्णिकानामेव वैदिकमार्गेष्वधिकारः ।

एवं तत्र तत्रोपलभ्यमानानि तत्तद्विद्याप्रशंसकानि वचनानि तत्तदनधिकारिणं प्रति निवर्तकानि। यथा बाल्ये क्रीडायामेव प्रवर्तयतोः पित्रोर्बालस्य अक्षराभ्यास-योग्यतायां जातायां क्रीडानिवर्तकत्वं दृश्यते सेयमेव सरणिः शास्त्राणामपि। यथा न्यायादिशास्त्रेषु स्वभूमिकामात्रलाभेन मोक्षप्राप्तिवर्णनम्। तत्र पुरुषार्थप्रवृत्तौ विलम्बशङ्कया न कश्चित् प्रवर्तेत इति स्वशास्त्रस्यैव फलरूपतया मोक्षप्राप्तिर्वर्ण्यते। देहादिभिन्नाऽऽमुष्मिकयातायातक्षमस्वात्मज्ञानरूपे तत्प्रयोजने निवृत्ते तु "आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्" इत्यादयो निषेधाः पूर्वभूमिकातः पुरुषमुत्तर-भूमिकां प्रापयन्तीति शास्त्रेषु क्रियमाणोऽप्यपह्नवः श्रेयस एव।

एवं क्रमेण "धर्ममेवाचरेत् प्राज्ञः" इत्यादयो विधयस्तदुत्तरभूमिकारूपकर्म-काण्डाचरणमहिमानमधिगमयन्ति। एवं धर्मार्थकामेषु साधितेषु चतुर्थपुरुषार्थ-लिप्सया पूर्वभूमिकात्यागाय 'नास्त्यकृतः कृतेन' इति कर्मनिन्दा प्रवर्तते। एतावत्पर्यन्तमज्ञान-भूमिका एवोच्यन्ते।

अथ ज्ञानभूमिकारोहणाय 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत्' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादयो ब्रह्मज्ञानविधयः प्रवर्तकाः। भगवतो वशिष्ठस्य मते सप्तैव ज्ञान-भूमिकाः 'अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्' इत्युक्तेः।

तासां नामानि क्रमेणैतानि—विविदिषा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्तिः, असंसक्तिः, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा इति। तल्लक्षणानि चाकरेषु द्रष्टव्यानि।

ज्ञानभूमिकोपयोगितया च वेदे उपनिषत्काण्डस्योत्तरमीमांसायाश्चाध्ययनं कर्तव्यकोटिं निविशते।

ब्रह्मज्ञानमपि द्विविधं शाब्दमपरोक्षानुभवरूपञ्च। तत्र शाब्दभूमिकालाभे सञ्जाते ततो निवर्तनाय—'पाण्डित्यान्निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत्' इत्यादयो विधयः। एवम-परोक्षानुभवाय प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य विविदिषाविचारणाख्ययोर्द्वितीयतृतीय-भूमिकयोर्मध्ये भक्तिरूपा महती भूमिका समुद्भवति तदुपयोगितया भक्तिमीमांसा-ध्ययनम्। भक्तिश्च पञ्चमभूमिकान्तमनुगच्छति। तल्लाभोत्तरमपरोक्षानुभवरूप-षष्ठभूमिकालाभः। सैव च जीवन्मुक्तिः। तदव्यवहितोत्तरमेव च विदेह-कैवल्यमित्ययं ज्ञानभूमिकानां क्रमः सुव्यवस्थितः।

एवमनेकासु भूमिकास्वेकैकाऽपि बहुभिर्जन्मभिरेव साध्यते। एवं महता प्रयत्नेन परब्रह्मणः शाब्दतत्वनिश्चयभूमिकापर्यन्तं क्रमेणारूढस्य संसारे नात्यन्तमासक्तिर्नाऽपि दृढो निर्वेद इत्याकारिका विलक्षणा चित्तशुद्धिः संपद्यते।

तादृश एव भक्तिमार्गेऽधिकारी। भक्तिरपि द्विविधा-गौणी परा चेति। आद्या सगुणस्य ब्रह्मणो ध्यानार्चनजपनामकीर्तनादिरूपा, द्वितीया परभक्तिस्त्वेतज्जन्यानुरागविशेषरूपा। तत्राद्वैतभक्तिरेवाऽऽगमानां प्रवृत्तौ हेतुः। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' इत्युक्त्याऽभेदभक्तिरेव प्रतिपाद्यते। श्रुतिरपि तथा 'यं मुक्ता अप्युपासते' इत्यादिरूपा। एवं प्रायः सर्वेषां वेदशिरोभागानामागमानां चैकवाक्यता दृश्यत एव। आगमास्तु क्वचित् त्रैवर्णिकाधिकारेण, क्वचित्सर्ववर्णाधिकारेण, क्वचिदज्ञातवर्णानामधिकारेण प्रवृत्ता इति विशेषः। नेदं निन्दास्थानं प्रत्युत परमेश्वरस्यानुग्रहातिशय एवाऽयम्। एतदभिप्रायेण प्रहृष्यतो भक्तस्य भणितिः स्तवचिन्तामणौ—

"अहो निसर्गगम्भीरो घोरः संसार सागरः।
अहो तत्तरणोपायः परः कोऽपि महेश्वरः॥"

एवमशेषजगतोऽनुजिघृक्षैव परमेश्वरमुखेभ्य आगमशास्त्रमुद्भावयामास।

अतएव स्वयं निर्गुणोऽपि परमेश्वरस्तत्तदधिकारिजनोपयोगाय तानि-तानि तन्त्राणि प्रणिनाय। स्वयमेकोऽपि प्रकाशविमर्शाख्यस्वांशद्वयकल्पितगुरुशिष्यभावः प्रश्नोत्तरव्याजेन सर्वान्प्यागमानवतारयामास। यथा स्वच्छन्दाऽऽगमे—

गुरुःशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥

एवं प्रथमं गौण्या ततः परया भगवदभेदभक्त्या निजरूपावाप्तिरेवोद्देश्यमागमानाम्। तत्प्रवर्तने च भगवतः करुणातिशय एव हेतुः।

अतएव वैदिकमार्गानुगानामपि पञ्चदेवतोपास्तिर्न विरुध्यते। भागवते—

"वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥"

इत्यत्रोक्तया दिशा प्रायः शिष्टानां मिश्रमार्गानुगामित्वं दृश्यते। अस्माकं सर्वेष्वपि संस्कारेषु विधिषु च वेदतन्त्रयोर्मिलितयोरेव प्रयोगो दृष्टिगोचरीभवति।

ईप्सितपदेन यस्य यत्राधिकारिता तेन तथाऽऽचरणीयमिति सूचितम् ।

"आगमेष्वधिकारिविभाग:"

यथोपनीतस्य त्रैवर्णिकस्यैव वेदाध्ययनाधिकारस्तथैव तत्त्वविदा गुरुणा कृतदीक्षस्यैवागमोक्तेषु कर्मस्वधिकारः ।

एतावानेव विशेषो यत्—कुतश्चित्कारणाद्वेदाधिकात्परिभ्रष्टानामप्यागमभेदेन प्रवेशो भवितुमर्हति यथा पाञ्चरात्रविशेषपाशुपतविशेषादौ ।

तत्र हेतुस्त्वयम्—

"श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्त प्रायश्चित्ते भयं गतः ।
क्रमेण श्रुतिसिध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत् ॥"

एवं कानिचन तन्त्राणि तदर्थमपि प्रवृत्तानि न पुनः सर्वाणि तथा चोच्यते—

"पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वैखानसाभिधम् ।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान् ॥"

इति । अज्ञैस्तु एतदज्ञानात् सर्वाण्यपि तन्त्राण्यवैदिकानि इति निन्द्यन्ते । प्रत्युत वैदिकमार्गस्य प्रत्यवायबहुलात्वात्सद्यः स्वाभीष्टलक्ष्यप्राप्तिस्तेन न भवतीति वैदिकेनापि तन्त्रोक्तमुपासनमनुष्ठेयमेवेति समर्थितं भागवते—

"य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥"

इत्यत्र 'च'कारेण वैदिकसमुच्चिततान्त्रिकविधेः करणीयता द्योतिता भवति । अतएव विशिष्य आशुफलप्रदातृतया त्रयीधर्मपरायणैरप्यागम आश्रयणीय एवेति पर्यन्ततः आगमानुयायिता सर्वेषामपि समुचितैव दृश्यते—

"आगमानां स्वरूपभेद."

आगमाश्च भेदप्रधानाः, भेदाभेदप्रधानाः, अभेदप्रधानाश्चेति सामान्यतस्त्रिधा भिद्यन्ते । तत्र चित्तशुद्धितारतम्यात् स्वाधिकारानुसारेण गुरुणा यो यत्र नियोजितः स तदनुष्ठान एव प्रयतेत नान्यत्र ।

यत्र काम्यकर्मणां बहिरङ्गोपासनानां चाधिक्यं त एव भेदप्रधाना भेदाभेदप्रधानाश्च । येषु पुनर्ज्ञानप्राधान्यादन्तरङ्गोपासनानामेव प्राचुर्यं काम्यकर्मणामल्पत्वमभावो वाऽत एव अभेदप्रधाना आगमाः । बालानां गुडजिह्विकयेव क्वचित्काम्यकर्म प्रपञ्चनेनाऽपि जनानामुन्मुखीकरणं सम्भवतीत्येतावदेव तदुद्देश्यम् ।

'कृत्रिमापि भवद्भक्तिरकृत्रिमफलोदया' इति अभियुक्तोक्तदिशा क्वचित्काम्यकर्मणामुपदेशद्वारेण पार्यन्तिक फलं प्रत्युन्मुखीकरणम् । क्वचित्तु आथर्वणीयानां शान्तिकपौष्टिकराष्ट्ररक्षाद्यात्मकानां प्रयोगाणां तु नितान्तमुपयोगितयाऽस्मर्यहितत्वं वर्तत एवेति प्रयोगप्राचुर्यमपि तन्त्राणामपयुक्तम् ।

उक्तञ्च—अथर्ववेदसंहिता-व्याख्यानस्योपक्रमे सायणाचार्येण 'ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति' इति ।

अभेदप्रधानास्त्वागमाः प्रधानलक्ष्यस्य स्वात्मोपलब्धिरूपस्यैव प्रतिपादकाः मुख्यतया, अङ्गत्वेनान्येषां विषयाणामपि समावेशस्तेषु भवत्येव ।

एवं संक्षेपतोऽयमागमानां परिचयः प्रदत्त । शास्त्रस्यास्य गुरुपरम्परैकलभ्यत्वात् अतिदुरूहत्वात् रहस्यतमत्वाच्च विशेषज्ञं गुरुमनाश्रित्य क्रियमाणः सर्वोऽपि क्रियाकलापो भस्मनि हुतमिव वैफल्यमासादयेत् व्यामोहश्च भवति तत्तद्विषयेषु । तदुक्तम्—

"तन्त्राणां बहुरूपत्वाद् कर्तव्यं गुरुसम्मतम्" इति अन्यथाकरणे निषेधश्च श्रूयते—

"पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः ।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः ॥"

इति भगवता शिवेन जगदुद्धारव्यग्रचेतसा सर्वेऽप्यागमा निरमायिषत । अनभिज्ञानां जिज्ञासूनाञ्च मतिभ्रमो मा भूदित्येतावन्मात्रमुद्देश्यमस्य लघुतरस्य प्रबन्धस्य न पुनर्विज्ञता प्रदर्शनम् ।

यदत्र मधुरं किञ्चित्तदस्तु विदुषां मुदे ।
यदत्र कटुकं भूयान्नीलकण्ठस्य तन्मुदे ॥

स्पन्दब्रह्मविमर्शः

यं प्राप्य सर्वागमसिन्धुसंघः पूर्णत्वमभ्येति कृतार्थताञ्च ।
तं नौम्यहं शाम्भवतत्वचिन्तारत्नौघसारं परमागमाब्धिम् ॥
(अभिनवगुप्तपादाचार्याः)

इह खलु निखिलेऽपि विचारवीचिमालिनि मतिविभवोडुपमात्रेण सञ्चरणसाहसजुषां विदुषां पुरस्तादस्ति चिरादभ्यस्तः प्रश्नोऽयम् । किं तावत् पारमार्थिकं सकलशास्त्रसिद्धान्तभूतं तत्वं ब्रह्मपरमेश्वरहरिहरप्रकृतिपुरुषप्रभृतिनानाशब्दप्रतिपाद्यमानमिति ।

तत्र केचन प्रत्यभिज्ञातपारमेश्वरस्वरूपा महामाहेश्वराचार्याः सविश्रम्भं प्रतिपादयन्ति यत् स्पन्द एव परं तत्वमिति ।

यद्यपि 'स्पदि किञ्चिच्चलने' इति धातोर्निष्पन्नः किञ्चिच्चलनक्रियारूपः स्पन्दः स च कथं परं तत्वमिति न ज्ञायते वक्तुम् । किन्तु तत्रोपलक्षणन्यायेन सर्वव्यापकक्रियारूपमर्थमादाय सर्वकर्तृत्वलक्षणः परमेश्वरस्वभावः प्रतिपाद्यमानो न दुष्यति । न च कर्तृत्वादिधर्मारोपे ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वभङ्गप्रसङ्गः शङ्कनीयः तस्योपरिष्टाद् वक्ष्यमाणया सरण्या स्वरूपाऽविनाभूततयैव समर्थयिष्यमाणत्वात् ।

अयमेव स्पन्दस्तत्तदवान्तरसंप्रदायभेदाद् माया, शक्तिः ऊर्मिः, चितिः, संवित्, कुण्डली, कला, नित्या, प्रतिभेत्यादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्यते । पारमार्थिकं तु स्वरूपमेकमेव ।

ननु स्पन्दशब्दमुखेनैव व्यपदेशे कोऽयमाग्रहः ? ब्रह्मप्रभृतीनि सन्त्येवतदभिधानानीति चेत्; उच्यते—सजातीय-विजातीय-स्वगत-सकलधर्मरहित ब्रह्मस्वरूपापेक्षया स्पन्दात्मना तत्स्वीकारे कोऽप्यनुभवगम्यस्तत्स्वरूपोत्कर्षः प्रतीयते । उद्यन्तृत्वलक्षणो हि परमेश्वरस्वभावः यद्वशादेव सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारित्वं घटते, नान्यथा ।

ननु प्रपञ्चं प्रति ब्रह्मणोऽप्यस्त्येवाऽभिन्ननिमित्तापादानकारणत्वम् तत्कोऽयं भवतां नवः पन्थाः ? उच्यते-यथाकथञ्चित् प्रपञ्चजनकत्व-भासकत्वादिस्वीकारेऽपि

ब्रह्मणो यदि नास्ति विलक्षणकर्तृत्वलक्षणस्वातन्त्र्यस्वीकारस्तर्हि स सम्बन्धः शब्दमात्रं स्पृशति, नार्थे विश्राम्यतीति । शब्दानुशासनेऽपि 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इति सूत्रे क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वमेव कर्तृस्वरूपं प्रत्यपादि दीक्षितैः । तच्च स्वातन्त्र्यमुपादानान्तरनिरपेक्षक्रियानिर्वाहकत्वरूपमस्मिन्मते व्याख्यायते ।

ननु ब्रह्मणोऽप्यभिन्ननिमित्तोपादानत्वमस्तीत्यैक्यमेव मतद्वये पर्यवसितमिति कथनीयमिति चेन्न कर्तृत्वस्य तत्राऽस्वीकारात् । अत्र च कर्तृत्वस्यैव तदुत्कर्षतत्स्वरूपनिर्वाहकत्वादित्यस्ति भेदः । यथोपश्लोकितो भगवान् केनापि—

"निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥"

पद्येऽस्मिन् लौकिकचित्रकतो योऽयं भगवतो व्यतिरेकोऽलङ्कारपदवीमधिशयानः कविना निरूपयितुमारब्धः स तस्य तादृशविलक्षणकर्तृत्वलक्षणस्वातन्त्र्यभूमिकाधारक एवेति विदाङ्कुर्वन्तु सन्तः । तच्च स्वातन्त्र्यं स्पन्दात्मकमेव ।

तदेतत् स्पन्दात्मकं पारमेश्वरं वैभवं परमेश्वरस्वरूपाभिन्नमेव । न च धर्मसम्पर्ककालुष्यप्रसङ्ग उद्भावनीयोऽत्र धीमद्भिः । तथा हि--सेतुबन्धव्याख्याने श्रीभास्कररराजदीक्षितचरणाः प्राहुः--"परशिवाख्यं ब्रह्मस्वभावादनन्तशक्तिकम्"। तदुक्तं ज्ञानवासिष्ठये—'सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम् ।' इति । 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादि श्रुतिभिः शक्तिशक्तिमतोरभेदोपचाराच्च न ब्रह्मणो निर्धर्मकस्वभङ्गः । संक्षेपशारीरकेऽपि —"चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमलाचैतन्यमेवोच्यते" इति च ।

इयंहि स्पन्दरूपिणी चिच्छक्तिर्निखिलं विश्वमभिव्याप्य प्रसरत्येवेति श्रुतेरस्यास्तात्पर्यं प्रतीयते ।

मार्कण्डेयपुराणेऽपि—"चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्" इति परस्याः स्पन्दात्मिकायाश्चिच्छक्तेः क्त्वाप्रत्ययेन जगद्व्याप्त्यनन्तरमपि परसत्तारूपेण स्थितिरस्त्येवेति सूच्यते । एवं परसत्ताऽपि स्पन्दात्मिकैव प्रतीयते । ततश्च स्पन्दरूपेण परापररूपं द्विविधमपि ब्रह्मस्वरूपं कुक्षीकृतं भवतीति विज्ञेयम् । यथोपनिषदि—

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ॥
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥ इति ।

श्रीप्रत्यभिज्ञायामपि—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाऽविशेषिणी ।
सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ इति ।

अत्रैतदालोचनीयम्—वेदान्तिनां मते परस्य चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्मायाख्या सा च जडा । सैव जगतः परिणाम्युपादानम् । परं ब्रह्म तु विवर्तोपादानम् । अत एव जगतोऽपि मायिकत्वाज्जडत्वं मिथ्यात्वं च । अद्वैतश्रुतयस्तु पारमार्थिकव्यति-रेकैवेत्येवं पराः ।

आगमविदां पक्षे तु—परब्रह्मनिष्ठा या चिच्छक्तिरौपनिषदानामपि सम्मता सैव नंतरूपत्वात् 'माया' इत्युच्यते । 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' 'माया च अविद्या स्वयमेव भवति इत्यादि श्रुतेः । तद्विलास एव च प्रपञ्चः अत एव च चिद्रूपः—'चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयम्' इति ज्ञानवासिष्ठात् । अत एव च सत्योऽपि । सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरणस्यात्यन्ताऽभेद एव स्वारस्यात् । न चाद्वैतश्रुतिविरोधः विरोधाऽऽपादकस्यैकस्य भेदस्यैव मिथ्यात्वाङ्गीकारात्' इति श्रीभास्करराजीय सेतु-बन्धव्याख्यानप्रदर्शितदिशा चैतन्याद्वयवादब्रह्माद्वयवादयोर्मूलत एव भेदः प्रवर्तते । अत एवैतन्मते स्वीक्रियमाणाऽपि 'माया' न तथा बन्धहेतुः स्वातन्त्र्ये कल्पितत्वात् । तदुक्तमभियुक्तैः—

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥ इति ।

एवं स्पन्दात्मकमेव स्वीक्रियमाणं ब्रह्मस्वरूपं हृदयङ्गमतामुपयाति ।
अन्यथाभावे तु—

अथास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ॥

इत्युक्तनीत्या परब्रह्मणोऽपि घटादिवज्जडत्वापत्तिरपरिहरणीया समापतेत् ।

अपरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपस्य परमेश्वरस्य चितिसारतया श्रीशिवसूत्रेष्वपि व्यापकमर्थमुद्भावयितुं-'चैतन्यमात्मा' इति भावप्रधानो निर्देशो व्यधायि ।

एवं सर्वव्यापकमहोदधिकल्पस्य परमशिवस्य चिद्रसतरङ्गपरम्परारूपिण्याः स्पन्दात्मिकायाः परस्याः शक्तेर्व्याप्तिसङ्कोचक्रमेण चितिः, चेतनः, चेत्यम्, चित्तमिति व्यपदेशाः प्रादुर्भवन्ति । अयमपि सङ्कोचविकासक्रमः स्पन्दात्मेति न विस्मरणीयम् । सूत्रे तु सर्वस्यापि संग्रहाय 'चैतन्यमात्मा' इति निर्देशः । एतत्तत्वप्रतिपादनेच्छयैव श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्या अपि दक्षिणामूर्तिस्तवे—

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुनः-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीवयःस्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

इति स्तुतिरूपेण शक्तिस्पन्दस्य माहात्म्यमुपवर्णयन्ति । मायापदेनात्रापि स्वातन्त्र्यरूपिणी मायाशक्तिरभिप्रेता । तथा च प्रत्यभिज्ञाहृदये—'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' इति ।

अस्याश्च स्पन्दात्मिकायाश्चिच्छक्तेः प्राथमिक उन्मेषः प्राणरूपेण संपद्यते । तदुक्तम्—'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' इति । दक्षिणामूर्तिस्तवेऽपि—

"बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा ।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये ॥

इत्थमाचार्या अमुमेवार्थं सङ्केतयन्ति । प्राणोन्मेष एव च मातृकोन्मेषः सैव च शब्दशास्त्रपर्यन्तभूमिरिति विषयान्तरत्वान्नेह प्रतन्यते । श्रुतिरपि तथा-यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्यादि ।

एतन्मतनिष्कर्षः श्रीमद्भट्टवामदेवशब्दैरयमुपस्थाप्यते-"इह खलु निखिलजगदात्मा सर्वोत्तीर्णश्च सर्वमयश्च विकल्पाऽसङ्कुचितसंवित्प्रकाशरूपोऽनवच्छिन्नचिदानन्दविश्रान्तःप्रसरदविरलविचित्रपञ्चवाहवाहिनीमहोदधिनिरतिशयस्वातन्त्र्यसीम्नि

प्रगल्भमानः सर्वशक्तिखचित एक एवास्ति संविदात्मा महेश्वरः । तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः, स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः, तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिरिति । इत्थं सर्वशक्तियोगेऽप्याभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुपचर्यते'' इति ।

अत्रेदं प्रष्टव्यम्—परशिवाख्यस्य ब्रह्मणो निरवधिकशक्तियोगेऽप्येकयैव स्पन्दापरपर्यायचिच्छक्त्या कथं सृष्ट्याद्यशेषघटनापटुत्वमिति ?

तत्रेदमुत्तरम्—परमतत्वं हि वस्तुत एकमेव तस्य द्वावंशौ प्रकाश-विमर्शाख्यौ स्तः । विमर्श एव हि स्पन्दः शक्तिर्वा कथ्यते । यावन्न विमर्शस्तावत् सन्नपि प्रकाशस्तिरोहितप्रायो भवति । विमर्शादेव प्रकाशस्य स्वरूपोपलब्धिः ।

तदुक्तम्—

''प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः'' इति

विमर्शाख्यस्पन्दाविनाभूत एव हि भगवान् परं ब्रह्मेति सिद्धान्तः । न च द्वैतविशिष्टद्वैतादिशङ्काकलङ्कावकाशोऽत्र करणीयः तादृगननुभवात् । यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञाविमर्शिन्याम्—विमर्शो हि सर्वंसह आत्मानमपि परीकरोति, परमप्यात्मीकरोति, द्वयमप्येकीकुरुते, उभयमपि न्यग्भावयति'' इति । एतदभिप्रेत्यैव वचनमेतत् स्मर्यते—

''शिवः शक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः'' इति ।

संविदोऽनवच्छिन्नतया व्यवहारभूमिकायां अवच्छेदभासे जायमानेऽपि मूलरूपमखण्डमनवच्छिन्नमेव तिष्ठतीत्युदाहरणद्वारा प्राहुः—

''कुम्भकारस्य या संविच्चक्रदण्डादियोजने ।
शिव एव हि सा यस्मात्संविदः का विशिष्टता ॥''

एवमस्याः स्वरूपमुपदर्श्य प्रधानतः सृष्टिक्रमे समुपयुज्यमानानां स्पन्दशक्तीनामवतारक्रमो निरूप्यते । यथा श्रीमालिनीविजये—

''या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥

एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥
एवं भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
ज्ञात्वा तदैव तद्वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते ॥
एवमेषा निरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥ इति ॥

एवं क्रमशः परमेशादुल्लसन्त्यस्तिस्र इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव विश्ववैचित्र्य-प्रसरहेतव इत्यवसेयम् । पर्यन्ते पुनः क्रियाशक्तेरेव विलासः स्फुरतीति वाच्य-वृत्याऽपि स्पन्द शब्दव्यवहारः समीचीनतामालम्बते ।

एवं प्राचीनपद्धतिप्रदर्शनेन सहैवाऽऽधुनिकीप्रवृत्तिरपि दिङ्मात्रेणोपदर्श्यते—

वैज्ञानिकाः साम्प्रतं दृश्यस्य जगतः स्थूलं सद्रूपं विभजन्तो यं सिद्धान्तमधि-जग्मुः सोऽप्येतादृशो भातीव । विश्वमेतत्सर्वं परमाणुभिर्घटितं वर्तते । परमाणूनां पृथक्करणमपि शक्यते विधातुम् । परमाणुश्च प्रत्येकं सौरमण्डलेन तुल्यो भवति प्रतिपरमाणु च ऋणधनात्मिके विद्युच्छक्ती सन्ततं प्रवहतः । ते च परमाणुषु विद्यमाना सूक्ष्माणवः सन्ति ये क्रमशः 'एलोक्ट्रोन' 'प्रोट्रोन' 'न्यूट्रन' शब्दैरभि-धीयन्ते ।

''नाइल्स बोहर'' नामकेन विदुषा प्रथममेतत् सिद्धान्तितं यत्—परमाणुं सुमेरुतयाऽङ्गीकृत्य तमभितः 'एलोक्ट्रोन' संज्ञकास्तेजोमया अणवः सन्ततं स्फुरन्ति । तदीयस्फुरणेनोद्भवन्ती व्यापिका शक्तिरखिलमपि ब्रह्माण्डं व्याप्य विराजत इति ।

एवमेव सुप्रसिद्धेन 'आइंस्टाइन' महोदयेनाप्युद्घोषितमासीदेतद्यत्—पिण्डं शक्तिश्चोभयमप्येकमेव वस्तु । पिण्डस्य शक्तिमयत्वात् स्थिरस्य पिण्डविशेषस्य कल्पनैवानुचिता । दृग्दृश्ययोः, देशकालयोः सर्वापि कल्पनातीव स्थूला प्रतीयते, सर्वस्यापि जगतो गतिरूपस्पन्दमयत्वात् । ते ते च विद्युदादिस्पन्दाः सूक्ष्मभावतार-

तम्यवशात् संवेद्या असंवेद्याश्चावभासन्त इति । अयं चिच्छक्तेः स्पन्दमहासागरो वैज्ञानिकपरिभाषायां विद्युच्चुम्बकीय वर्णावलीति (इलेक्ट्रो मैंगनेटिक स्पेक्ट्रम) पदेन निगद्यते ।

विद्युच्चुम्बकीयवर्णावलीयं सततं मण्डलाकारं स्पन्दमानैव भवति । प्रतिनिमेषं ३०, ००० सहस्रमण्डलान्यारभ्याऽसंख्यमण्डलावधिकोऽस्याः स्पन्दक्रमः । इदमेव सृष्टेर्बीजम् इयमेव महती चरमा च शक्तिर्ब्रह्म वा वैज्ञानिकानां मते ।

तत्किमपि भवतु तत्वान्वेषणे क्रियमाणे बुद्धिसंवादो भवतीति नैव चित्रमेतत् । प्राचीनसिद्धान्तेन सहैतद्विचारणीयतामर्हत्येव । प्राचीनाः परमर्षयस्तु साक्षात्कृततत्वार्थसार्था भगवद्रूपसमावेशान्मूलतत्वमध्यक्षयन्ति स्म । ततश्च सोऽयं स्पन्दसिद्धान्तोऽपि सुतरां गभीरतरः केवलमेकदेशेन किञ्चिद्व्याख्यातो विदुषां परितोषाय । ततश्च संगच्छते वचनमेतत्—

"शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः" ॥

इति शिवम्

